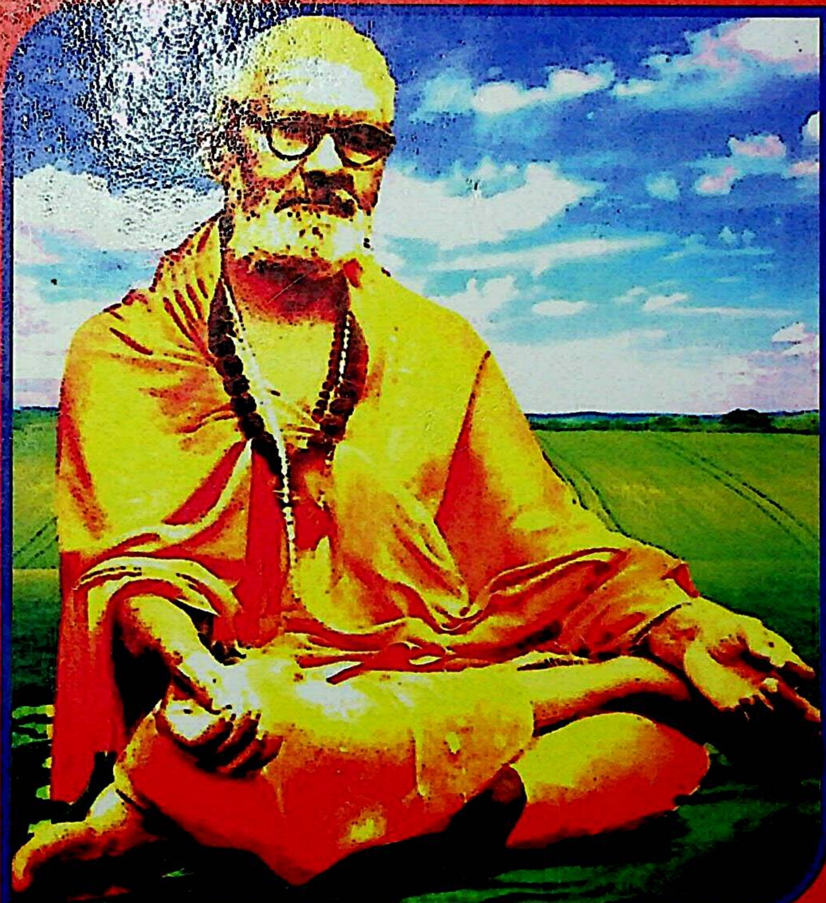
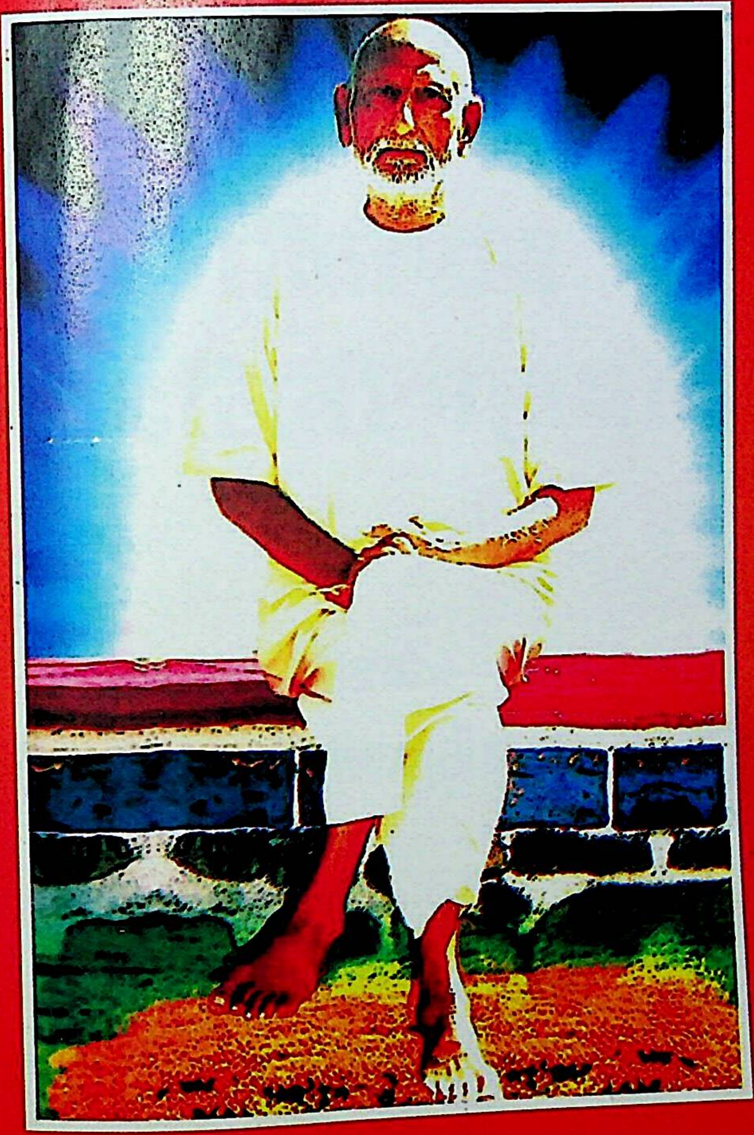
शक्तिपात

([illegible] प्रबोधिनी टीका सहित)



स्वामी श्री विष्णु तीर्थ जी महाराज



प. पू. स्वामी श्री शिवोम् तीर्थ जी महाराज

॥ ॐ ॥

शक्तिपात
कुण्डलिनी महायोग

लेखकः-

श्री 108 स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

सम्वत् 2064 वि० सन् 2007

मूल्य ₹ 95/-

प्रकाशक

योगश्री पीठ ट्रस्ट (प्रकाशन)

मुनि-की-रेती (टिहरी गढ़वाल) उ0 प्र0

पो0-ऋषिकेश-294 192

षष्ठम् संस्करण	....	**1000 प्रतियाँ**
संवत् 2064	....	**सन् 2007**

सप्तम संस्करण .... 2000 प्रतियाँ

संवत् 2069 .... सन् 2013

मुद्रकः-

शर्मा ऑफसेट प्रिन्टर्स

गोपाल कुटी, देहरादून रोड, ऋषिकेश

फोन : (0135 - 2432990)

दो शब्द

प्रातः स्मरणीय सद्गुरूदेव स्वामी विष्णुतीर्थ महाराजश्री ने विभिन्न शास्त्रों में यत्र-तत्र फैले हुए शक्तिपात विज्ञान को संकलित कर सूत्र रूप में प्रकाशित करके अध्यात्म पथ के साधकों पर अपार कृपा की थी। जिस प्रकार महर्षि पतंजलि ने योग विषय को चार भागों में विभक्त कर प्रस्तुत किया है, उसी से प्रेरणा लेकर महाराजश्री ने भी शक्तिपात विषय को चार भागों में अनुशासित की हिन्दी टीका-सहित साधकों के समक्ष प्रस्तुत किया।

महाराजश्री ने जिस काल में शक्तिपात विषय पर इस ग्रंथ की रचना की, उस समय तक हिन्दी भाषा साहित्य में इस विषय का नितान्त अभाव था। इस विज्ञान को सर्व साधारण के लिए हिन्दी भाषा में सुलभ कराना वास्तव में शक्तिपात परम्परा को महाराजश्री की सबसे बड़ी देन है। शक्तिपात सूत्र (हिन्दी टीका सहित) के प्रकाशन के कुछ समय पश्चात् आपने श्री अभिनव गुप्त द्वारा रचित शिव सूत्र प्रबोधिनी नामक ग्रंथ की भी हिन्दी टीका की। इसे शक्तिपात भाग दो शीर्षक से प्रकाशित किया गया। उसी समय से ये दोनों ग्रंथ पृथक-पृथक प्रकाशित होते आए है। इस पुस्तक में इन दोनों को एक करके प्रकाशित किया जा रहा है। इस संयुक्त संस्करण से साधकों को एक ही पुस्तक में संपूर्ण विषय क्रम उपलब्ध हो सकेगा और यह निश्चित रूप से उनके लिए अधिक सुविधाजनक होगा। आशा है कि साधकगण इसका पूर्ण लाभ लेंगे।

श्री सद्गुरूदेव महाराजश्री की कृपा-छाया में आप सभी साधकों का आध्यात्मिक उत्थान हो।

इत्योम!

स्वामी गोविन्दानन्द तीर्थ

ब्रह्मलीन श्री स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज विरचित शक्तिपात

कुण्डलिनी सिद्ध महायोग

की भूमिका

ब्रह्मलीन श्री गुरूदेव द्वारा रचित 'शक्तिपात् सूत्र' शक्तिपात साधन-प्रणाली का प्रामाणिक ग्रन्थ है। श्री गुरूदेव का यह अनुग्रह ही है कि उनहोंने इस पर, हिन्दी में इन सूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या भी लिख दी है जिससे सूत्रों का अर्थ तथा समझने में पर्याप्त सहायता एवं मार्ग-दर्शन प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार योग का विषय शास्त्रों में यत्र-तत्र फैला हुआ था किन्तु उसे तारताम्यता में सूत्रबद्ध करने का श्रेय महर्षि पातंजलि को ही प्राप्त हुआ। उसी प्रकार शक्तिपात का विषय भी तंत्रों, पुराणों तथा उपनिषदों में स्थान-स्थान पर वर्णित होते हुए भी, क्रमबद्ध, वैज्ञानिक तथा अनुभव गम्य, किसी एक पुस्तक में उपलब्ध नहीं था। श्री गुरूदेव ने 1940 में सन्यास ग्रहण करने के पूर्व इस ग्रन्थ की रचना की थी तथा इसकी व्याख्या भी तभी लिख दी थी। वर्तमान युग में, जबकि इस विद्या के अनेकों गुरू, आश्रम तथा साहित्य उपलब्ध हैं किन्तु अनुभव के आधार पर लिखा यह ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसे शक्तिपात का सैद्धान्तिक ग्रन्थ भी माना जा सकता है।

शक्तिपात् साधन-

शक्तिपात साधन प्रणाली अत्यन्त प्राचीन है। पीछे मुड़कर मनुष्य, जहां तक भी अतीत में झांक सकता है अथवा कल्पना कर सकता है, शक्तिपात के उदाहरण तथा साहित्य उपलब्ध हो सकता है। इस विद्या में जाति, देश, काल अथवा वर्ण का कोई बंधन नहीं। सभी धर्मों, मार्गों, सिद्धान्तों तथा सम्प्रदायों में, नामान्तर भेद से इसका उल्लेख मिलता है। श्री गुरूदेव ने इस तथ्य का वर्णन भी इस ग्रन्थ की व्याख्या में किया है। आप लिखते हैं वर्णानां न नियमः (2-31) वर्णों का नियम नहीं है। जिसको गुरू स्वीकार कर लें, वहीं पात्र है, वर्ण (जाति) का नियम नहीं है। ईसाई, मुसलमान, योरोप तथा अन्य देशों के निवासी, सभी इसके पात्र हो सकते हैं," आध्यात्मिक धरातल पर जाकर, सभी धर्म एक हो जाते हैं। धर्मों के स्तर पर व्याप्त संकीर्णता, अध्यात्म में प्रवेश पाने पर उदारता ग्रहण कर लेती है। वेसे भी, यदि विचार कर के देखा जाए, तो पुकार चाहे किसी भी नाम से की जाए, किन्तु ईश्वर एक ही है, उसकी सर्वव्यापक शक्ति भी एक हैं। जिस प्रकार अनेकानेक नदियाँ सभी दिशाओं से आकर, समुद्र में मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार सभी साधनाएं तथा मार्ग उसी एक ईश्वर की ओर ले जाते हैं। शक्तिपात से उस ऐक्य का आरम्भ हो जाता है। अहंकार जनित संस्कार ही, जीवों को, वर्गों, धर्मों तथा जाति सम्प्रदायों में, विभक्त करने का कारण हैं। शक्तिपात साधन प्रणाली उन्हीं संस्कारों तथा अहंकार पर सीधे चोट करती है। अपनी क्रियाओं के माध्यम से उन्हें क्षीण कर, चित्त निर्मल बना देती है। सभी आध्यात्मिक महापुरूष कहीं न कहीं, तथा कभी न कभी, सद्गुरू द्वारा अनुग्रह प्राप्त कर ही, आध्यात्मिकता की ऊँचाईयाँ छू पाए हैं। यह बात अलग है कि उनके द्वारा ऐसी कृपा-प्राप्ति, लोगों को ज्ञात हो पाई या नहीं, कई महापुरूषों ने तो आवश्यकता नहीं होने पर भी, जनसमुदाय के समीप, केवल गुरू की आवश्यकता स्थापित करने के

लिए गुरूदीक्षा ग्रहण की, जैसे कि आदि शंकराचार्य या फिर यसू मसीह।

हाँ! तो महाराज श्री द्वारा रचित शक्तिपात की बात चल रही थी। आपने इन सूत्रों को योग-दर्शन की ही भांति चार पादों (अध्यायों) में वगीकृत किया है। प्रथम पाद में शक्ति क्या है। उसके स्तर क्या क्या हैं, गुण क्या हैं, आदि पर प्रकाश डाला है। उसकी जाग्रत एवं प्रसुप्त अवस्था क्या है? जाग्रति का फल क्या है? आदि का वर्णन किया है। प्रथम पद को शक्ति-पाद की संज्ञा दी जा सकती है। द्वितीय पाद में दीक्षा-प्रकरण दर्शाया गया है। अतः इसे अनुग्रह-पाद कहा जा सकता है। तृतीय पाद को साधन पाद कहा जा सकता है तथा चतुर्थ पाद को कैवल्य पाद शीर्षक दिया जा सकता है। इस सूत्र रूप में, आरम्भ से लेकर, अन्त तक साधन का सभी विषय ग्रन्थ में समेट लिया गया है।

अनुबंध चतुष्टय-

प्राचीन अध्ययन शैली, वर्तमान युग से बहुत भिन्न थी। आध्यात्मिक ग्रन्थों के रचनाकार एवं उनके पाठक, चार बातों को ध्यान में रख कर ही रचना, अध्ययन में प्रवृत्त होते थे। विषय-प्रयोजन, विषय-प्रयोजन संबंध तथा अधिकार निर्णय। यदि कोई शंका करे कि योग दर्शन में अधिकार निर्णय नहीं किया गया, तो इसका समाधान यह है कि उस में अधिकार निर्णय की आवश्यकता नहीं। वहाँ सभी प्रकार के अधिकारियों के लिए साधन बताये हैं किस साधक के लिए क्या साधन उपयुक्त है, इसका निर्णय गुरू पर छोड़ दिया गया है। जहां तक शास्त्र का संबंध है, उस पर प्रत्येक उस व्यक्ति का अधिकार है, जो उसमें रूचि रखता है।

विषय-

ग्रन्थ का विषय प्रथम सूत्र में ही स्पष्ट कर दिया गया, शक्तिपात् शक्ति, तथा शक्ति के विभिन्न स्तर या स्वरूप, शक्तिपात,

क्या हैं, कितने प्रकार का है, क्यों आवश्यक है, शक्तिपात से क्या अनुभव होते हैं, इत्यादि सभी विषय के अन्तर्गत आ जाता है। अर्थात् शक्तिपातं व्याख्यास्यामः ।।1-1।।

प्रयोजन-

प्रथम पाद के अन्तिम सूत्र (32) में शक्तिपात का प्रयोजनीय विषय दिया गया है-ततः द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।। यह योग दर्शन का तीसरा तथा प्रयोजनीय विषय है जिसे किसी भी प्रकार की छेड़छाड़ किये बिना ही, ग्रन्थ में ग्रहण कर लिया गया। अर्थात् इस ग्रन्थ तथा योग दर्शन का प्रयोजन एक ही है, द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना। वैसे तो द्रष्टा आत्मा अपरिणामी होने से सदैव ही अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है किन्तु वृत्तियों के उस पर प्रतिबिम्बित होने से, चित्त में भ्रान्ति उदय हो जाती है जिससे जीव उसे परिणामी मान बैठता है। साधन का उद्देश्य इस भ्रान्ति को हटाना है जिसके लिए वृत्ति निरोध आवश्यक है। यहां सूत्रकार को पतंजलि का यह सिद्धान्त स्वीकार है। वास्तव में यह योग दर्शन के "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" एवं तत प्राप्ति के लिए ईश्वर प्राणिधान की व्याख्या ही है। स्वरूप स्थिति को योग दर्शन में कैवल्यावस्था कहा गया है। यहां सूत्रकार ने वेदव्यास कथित (योगः समारिति) तथा भगवान द्वारा प्रतिपादित योगश्चित्त वृत्त निरोधः, दोनों को स्वीकार किया है क्योंकि इन दोनों परिभाषाओं में केवल शब्दों का अन्तर है।

विषयः प्रयोजन संबंध- दोनों उपरोक्त योग की परिभाषाओं को मान्य कर, सूत्रकार ने प्राण-शक्ति को संयम कर, उसके निरोध का उपाय सुझाया है क्योंकि जब तक प्राण शक्ति आन्दोलित रहती है, वृत्ति निरोध संभव नहीं। प्राण से मन, तथा मनोनिरोध से प्राण के निरोध का मार्ग शास्त्रों में स्थान-स्थान पर कहा है। मनोनिरोध से, प्राण का निरोध करना अभ्यास का विषय है तथा अत्यन्त दुष्कर है।

प्राण का निरोध करने के लिए भी कई साधक प्राणायाम का अभ्यास करते हैं किन्तु अभ्यास से अस्थाई लाभ ही हो पाता है क्योंकि वृत्तियों का उद्गम वासना है, तथा वासना का कारण संस्कार जब तक निर्मूल नहीं हो जाते, तब चित्त की निर्मलता सम्पादित नहीं होती। निर्मलता के उपरान्त ही भ्रान्ति की निवृत्ति होकर, प्राण शक्ति आत्मा में विलीन होकर, आत्म स्थिति अथवा स्वरूप-स्थिति का अनुभव हो पाता है।

यहां महाराज श्री का सूत्र है,- प्राणस्येद वशे सर्वमिति श्रुते: ।।1-13।। अर्थात् चित्त वृत्ति निरोध अथवा समाधि रूपी योग की प्राप्ति प्राण शक्ति के वश में है। प्राण शक्ति ही बहिर्मुखी आन्दोलित होकर, वृत्ति की क्रिया के माध्यम से संकल्प-विकल्पात्मक मन उत्पन्न करती है तथा प्राण शक्ति ही अन्तर्मुखी कार्यशीलता से संस्कारों को निर्मूल कर, वासना का नाश करती है, वृत्तियों को क्षीण करती है जिससे मन का भी अभाव हो जाता है। अत: चित्त शुद्धि या वृत्ति निरोध के लिए प्राण शक्ति का प्रतिप्रसव क्रम में जागृत होना आवश्यक है। यह कार्य शक्तिपात से सहज संभव है। जिस प्रकार एक बुझा हुआ दीपक दूसरे दीपक को प्रज्वलित नहीं कर सकता। उसके लिए पहले दीपक का प्रकाशमान होना आवश्यक है इसी प्रकार जागृत- शक्ति-सम्पन्न गुरू ही शिष्य की प्राण-शक्ति को अर्न्तमुख जागृत कर सकता है। सूत्र है "तत: शक्ति प्रदीपन दीपवत्- ।।2-6।। उससे शक्ति का प्रदीपन होता है, दीपक के सदृश्य।। यहीं शक्तिपात है।

प्रथम पाद के बीसवे सूत्र में तो स्पष्ट ही कहा है कि "तत: समाधि सिद्धि" अर्थात् उससे समाधि की सिद्धि होती है। योग दर्शन में भी ईश्वर प्राणिधान की फलश्रुति इस प्रकार दी गई है कि समाधि सिद्धिरीश्वर प्राणिधान" अर्थात् ईश्वर प्राणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। इस प्रकार विषय एवं प्रयोजन का संबंध है।

अधिकार-निर्णय-

इस विषय में विवाद चलता ही रहता है कि अधिकार-निर्णय करके दीक्षा देना चाहिए अथवा किसी को भी दीक्षा दे दी जावे। कुछ लोगों के विचार इस बात पर बहुत दृढ़ हैं कि अनधिकारी को दीक्षित नहीं करना चाहिण। यदि किसी का अधिकार देखने की आवश्यकता नहीं तो शास्त्रों में अधिकारी शिष्य के लक्षण ही क्यों दिये गये हैं। दूसरा पक्ष यह कहता है कि किसी व्यक्ति के वाह्य क्रिया कलापादि देखकर ही निर्णय नहीं किया जा सकता कि कौन अधिकारी है तथा कौन नहीं। इसलिए यह बात शक्ति पर छोड़ देना उचित है। यदि कोई अनाधिकारी भी है तो शक्ति प्रथम उसको अधिकारी बनाएगी एवं तत्पश्चात् उसकी स्वाभाविक आन्तरिक साधना आरम्भ होगी। किन्तु शक्तिपात् सूत्रों का आरम्भ केवल 'अथ' ये नहीं अथ अतः (अथातः) से किया गया अर्थात् अब हम (यहां से) शक्तिपात के विषय का आरम्भ करते है। भाव यह है अब तक साधन बहुत कुछ कर चुका है। उसकी कुछ भूमिका निर्मित हो चुकी है अतः शक्तिपात का विषय आरम्भ होता है। यह ठीक है कि जो बच्चा दसवीं पास कर चुका होगा, वहीं ग्यारवीं में प्रवेश पा सकता है। शक्तिपात के पश्चात् आन्तरिक साधन आरम्भ होता है। जिसका लक्ष्य अभी पूर्णतः बहिर्मुखी है, वह अन्तर प्रवेश कैसे पा सकेगा। इसलिए कुछ न कुछ तैयारी होनी ही चाहिए।

महाराज श्री ने इस बारे में जो दृष्टिकोण अपनाया है वह एक दम भिन्न है। सबको दीक्षा दे देने के पक्ष में नहीं थे। न ही किसी की विद्वता, नम्रता, सौम्यता, अथवा चरित्रादि से प्रभावित होते थे। आज यदि कोई व्यक्ति, देखने में एकदम अनाधिकारी है, तो उसके भविष्य में उदार होने वाले संस्कार कैसे हैं, यह उसके वर्तमान व्यवहार से ही नहीं कहा जा सकता। इसके लिए उन्होंने, योग मार्ग का विलक्षण उपाय प्रस्तुत किया है। मुझे अभी तक उनके शब्द स्मरण हैं, "जब

कोई दीक्षा की इच्छा से आता है तो तत्काल शक्ति की ऐसी क्रिया होती है जिससे यह पता लग जाता है कि वह व्यक्ति दीक्षा का अधिकारी है कि नहीं। यदि अधिकारी न हो तो भी उसे इन्कार करना उचित नहीं क्योंकि गुरू का लक्ष्य एवं कर्तव्य जगत-कल्याण है। इसलिए उसे शक्तिपात् न करते हुए किसी अन्य साधना में, जो उस व्यक्ति के उपर्यक्त हो, लगा देना चाहिए तथा गुरू एवं शिष्य दोनों को उस समय की प्रतीक्षा करना चाहिए जब तक वह शक्तिपात का अधिकारी न हो जाए।'' इसका संकेत उन्होंने शक्तिपात् सूत्रों में इस प्रकार दिया है:- यस्मिन्न पतति तद्धि न पात्रम् (2-30) जिस मनुष्य में शक्ति नहीं गिरती, वह पात्र नहीं है। शक्ति का यह पात, शक्तिपात् से भिन्न प्रकार का होता है जिससे साधक की पात्रता का ही पता चलता है। सभी गुरूओं में ऐसी सामर्थ्य नहीं होती कि इस योगिक उपाय से किसी की पात्रता का निर्णय कर सकें फिर आगे इस सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं:- परन्तु इस सूत्र का यह अर्थ भी नहीं कि जिसमें शक्ति जाती है वह दीक्षा का पात्र है ही। यह भी सम्भावना हो सकती है कि शक्ति जाने पर भी कोई कोई दीक्षा के पात्र नहीं होते। भाव यह है कि कुष्ट, यक्ष्मा, मिरगी, बवासीर आदि के रोगी तथा अन्धे, काने, बहरे, अंगहीन तथा अधिकांगी, अधिकारी होते हुए अनाधिकारी हैं। वैसे महाराज श्री ने स्वयं एक अंध पर कृपा की थी। हो सकता है क़ि उसका अधिकार अंधेपन की अपेक्षा कहीं अधिक हो। कारण पूछने की हिम्मत नहीं हुई। गुरू की बात गुरू जाने। इसी प्रकार किसी गुरू के द्वारा अष्टावक्र को भी दीक्षित देखा। गुरू की दृष्टि अति सूक्ष्म तथा अलौकि होती है। ''समरथ को नहीं दोष गुसाईं''। किन्तु सब संकेत देने के पश्चात् भी महाराज श्री लिखते हैं:- ''परीक्ष्य दीक्षयेत्'' अर्थात् गुरू शिष्य की परीक्षा करके देवे। यदि अयोग्य हो तो दीक्षा न देवे, उसके योग्य बनने के लिए समय दे। समय पाकर पका हुआ फल मीठा होता है। इसलिए शीघ्रता करना उचित नहीं है।

प्राण-शक्ति-

दो प्रकार की शक्तियां जीव के अभिमुख हैं। समुद्र की लहरों, बिजली की चमक-दमक वायु का वेग, अग्नि की तपश अथवा मानव द्वारा निर्मित एवं चालित यंत्रों की शक्ति अनुभव कर सकता है। किन्तु सभी जड़ शक्तियां है। बिजली तथा भाप इत्यादि शक्ति जो कि भौतिक पदार्थों से पैदा होता है, वह भी जड़ शक्ति की कोटि में आती है। जड़ का अर्थ ऐसी शक्ति से है जिसमें समझने या जानने की शक्ति न हो। ऐसी शक्तियों को ही पशु शक्तियां कहा जाता है। दूसरी शक्ति वह है जिससे जीव की इन्द्रिया परिचालित होती है। इसको चेतना शक्ति कहा जाता है। जो निश्चय ही जड़ शक्ति से भिन्न हैं। चेतन शक्ति में समझने जानने की शक्ति होती है। यदि एक हाथ पर मच्छर काट खाए तो दूसरा, अनायास ही उइकर, मच्छर को उड़ा देता है किन्तु यदि किसी मशीन में कोई खराबी हो जाए तो शक्ति केवल उस मशीन के आधार पर कार्य करना बन्द कर देगी। जड़ शक्ति जड़ अवस्था में आ जाने के कारण जड़वत् अचेतन ही कार्य करती है। इसलिए इसे आधिभौतिक कहा जाता है। जड़ शक्ति का विश्लेषण तथा व्याख्या इस ग्रन्थ का विषय नहीं है।

यदि जड़ शक्ति, जड़ पदार्थों से पैदा होती है तो चेतन शक्ति का उद्‌गम चेतन आत्मा है। आत्मा से उद्‌भूत होते समय शक्ति का स्तर चैतन्य कहा जाता है। जो कि नीचे उतरता, इन्द्रियों के आधार पर कार्य करता हुआ चेतना हो जाता है। चेतना यद्यपि आत्मा की शक्ति, भौतिक इन्द्रियों के संयोग तथा भौतिक जगत की दिशा में ही कार्यशील होने के कारण, सामान्य जन, जड़ शक्ति तथा चेतना शक्ति के अन्तर को नहीं समझ-जान पाते। इसी अन्तर की ओर संकेत करते हुए वेदान्त में, प्रज्ञानं ब्रह्म कहा जाता है। "ऐ जीव, तू जिसे इन्द्रियों की शक्ति, जड़शक्ति माने बैठा है, वह ब्रह्म ही है" इन सूत्रों में शक्तिवृथात्मनः श्रुतेः ।।1-2।। वह शक्ति आत्मा से ही है, श्रुति का

प्रमाण है। अंथा यों कहें कि चितिर्वा ।।1-3।। वह चिति ही है। वह चेतन सत्ता ही चेतना के स्तर पर उतर कर, इन्द्रियों के आधार पर जगदाभिमुखी कार्यशील होती है। किन्तु भ्रान्तिवश यह तथ्य जान नहीं पाता किसी भी भौतिक शक्ति से मृतक शरीर की इन्द्रियां परिचालित नहीं की जा सकतीं। चेतन के चेतना स्तर पर आने के साथ आत्मा अथवा चैतन्य के गुण भी साथ ही आते हैं। आत्मा में जानने क ी शक्ति निहित होने से, चेतना में भी जानने की शक्ति आ जाती है। चेतना के ऊपर का, शक्ति का स्तर, चित्त के संयोग के कारण, चित्त शक्ति है अर्थात् चित्त के आधार पर कार्यशील शक्ति, चित्त शक्ति कही जाती है। इन्द्रियों के द्वारा जगत को जो ज्ञान जीव के अन्तर में प्रतिबिम्बित होता है। उसे चित्त ही ग्रहण करता है। इसे चेतना में चित्त-शक्ति का समावेश भी समझा जा सकता है। इस बात को महाराज श्री ने चितिर्वा'' अर्थात् वे चेतना वास्तव में चित्त शक्ति ही है, कहकर निरूपित किया है। भाव यह है कि चेतना शक्ति, जड़ शक्ति से भिन्न है, चेतन है।

चिति चेतन तो है ही, ज्ञानवती भी है। उसे तीनों कालों का ज्ञान है। प्रकट तथा अप्रकट सभी तथ्यों से अवगत् है। प्रत्येक क्रिया, भाव, विचार, घटना की वह प्रत्यक्ष साक्षी है। वास्तव में तो उसके साक्षित्व के बिना कुछ भी सम्भव नहीं। जीव में क्या संस्कार, वासनाएं भाव तथा विचार हैं, वह सब जानती है। उससे कोई भी बात छुपाई नहीं जा सकती। वह नित्य ज्ञानवती है। यहां तक कि अभाव में भी उसका भाव बना रहता हैं इसीलिए शक्तिपात के पश्चात् की स्वाभाविक साधना में, उसकी क्रियाऐं चित्त-स्थिति के अनुरूप होती हैं। ''ज्ञानवती च'' ।।1-4।।

शक्ति के विभिन्न स्तर हैं जैसे चिति, चित्, चैतन्य, चित्त, चेतना इत्यादि। शक्ति तथा प्राण दो ऐसे शब्द हैं जिनको किसी भी स्तर पर किया जा सकता है अर्थात् इनका अर्थ बड़ा व्यापक है।

उपनिषदों में प्रायः प्राण का ही प्रयोग हुआ। प्राणोवाश्रुते ।।1-5।।

सारी सृष्टि में, सभी जीवों में अन्तर्वाह्य एक ही चेतन शक्ति सर्वव्यापक, प्रसारित तथा कार्यशील है। कण मात्र स्थान भी शक्ति से रिक्त नहीं है। जहां कुछ है अथवा जहां सभी का अभाव है, वहां भी वह विद्यमान है। वह एक ऐसी अग्नि है जो सारे जगत का रूप धारण किए है। जीवों के अन्दर, उनके रूप के अनुरूप विद्यमान है। बाहर के सभी दृश्य, पदार्थ तथा वस्तुएं उसी के स्पन्दन से ही परिलक्षित होती है। वह एक ऐसी सत्ता है जो सब कुछ करती है तथा कुछ भी नहीं करती। उसका न कोई पाप न कोई पुण्य। इसीलिए उसके संस्कार संचय भी नहीं होते हैं तथा सभी प्रकार के कर्म-फलों से वह मुक्त है। उसका न विकास होता, न ही ह्रास। विकास तथा ह्रास तो आधार का होता है। वह सदा एक रस, युवा बनी रहती है। जब जगत नहीं था। तब भी थी, अब जब जगत प्रत्यक्ष है तो भी है तथा जब जब जगत विलीन हो जाएगा तब भी रहेगी। वह अपने अन्दर में ही, अपने अन्दर से ही जगत प्रकट करती है, अपने अन्दर ही समा लेती है। अर्थात् जगत, शक्ति में हैं, तथा शक्ति, जगत के कण कण में है। योग मार्ग में वह शक्ति, कुण्डलिनी नाम से प्रख्यात हैं, (सैव कुण्डलिनि ।।1-6।। वही कुण्डलिनी है।)

विषय को समझने के लिए, शक्ति के समष्टि तथा व्यष्टि, दो स्तरों की कल्पना की गई है यथार्थ में जब एक ही चेतन सर्वव्यापक है, उसका विभाजन हो ही नहीं सकता। किन्तु चूंकि वह विभाजितवत् प्रतीत होती है, इसीलिए व्यष्टि की कल्पना करने में विवश है। वैसे तो शक्ति सदा परिपूर्ण बनी रहती है। अनन्त ब्रह्माण्डों एवं अनगिनत जीवों की रचना करके भी शेष बनी रहती है। उसका शेष बचा हुआ भाग भी पूर्ण बना रहता है। उसका प्रत्येक अंश पूर्ण है। समष्टि स्तर पर अखण्ड ब्रह्माण्डों के रचना करने के उपरान्त भी बची हुई शक्ति को शेष की उपमा दी जाती है। तथा व्यष्टि स्तर पर बची शक्ति को कुण्डलिनी कहा जाता है।

शेष तथा कुण्डलिनी दोनों की कल्पना सर्प तथा सर्पिणी के रूप में की जाती है जो दोनों प्रतीक मात्र ही है। यह कल्पना संभवतया इसलिए की गई है क्योंकि इन दोनों की वाह्य अभिव्यक्ति यह संसार तथा स्थूल शरीर, सर्प की भांति सदैव संसरण करते रहते हैं, उनका रूप प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। न तो शेष नाग के रूप अथवा न ही कुण्डलिनी के रूप में, समष्टि अथवा व्यष्टि दोनों स्तरों पर, कोई भी निश्चेष्ट अथवा प्रसुप्त नहीं होता वरन् जदाभिमुख क्रियाशीलता बनी रहती है तथा आत्मा की ओर से उदासीनता। यह जगदाभिमुखी क्रियाशीलता तथा आत्माभिमुख उदासीनता भी एक कल्पना मात्र ही हैं अन्यथा शक्ति के कुछ अंश का प्रवाह किसी दिशा-विशेष में बहने लगता है। जीव भ्रान्त बना सदैव ही कल्पना लोक में विचरण करता है। यथार्थ से पूर्णतया अनिभिज्ञ, मन की काल्पनिकता अथवा भावुकता में विचरण करता रहता है। वह केवल कल्पना तथा भावना करते रहने में विवश है। उसे वाह्य जगत की जो भी अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं वह चेतन शक्ति के वश में है। इसी शक्ति की जागृति के पश्चात् अन्तर्मुखी अनुभूतियां भी शक्ति की ही क्रियाएं हैं। जीव के पास अभिमान के अतिरिक्त कुछ नहीं।

किन्तु इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय शक्ति नहीं है, शक्तिपात है। शक्ति के संबंध में तो सूत्रकार ने प्रसंगवश ही लिखा है। पात का अर्थ गिरना तो स्पष्ट ही है किन्तु तात्विक दृष्टि से ऊपर नीचे अथवा दायें-बायें कल्पना मात्र है। दृष्टि सीमित होने से ही दिशाओं की कल्पना उठ खड़ी होती है। अन्यथा यह सब औपचारिक प्रयोग मात्र है। इसी प्रकार गुरू को उच्च तथा शिष्य को निम्न मान लेना भी एक कल्पना या भावना ही है अन्यथा दोनों में आत्मतत्व एक ही विराजमान है। परन्तु जीव अपनी चित्त स्थिति के अनुसार कल्पना करने में निबद्ध है, इसमें कुछ अस्वाभाविक नहीं। जब तक उसके समक्ष आत्म तत्व प्रकट नहीं हो जाता, गुरू को उच्च स्थान पर रखना

साधन के लिए लाभकारी ही है। आत्म स्थिति की अवस्था में यह संबंध विकल्प मात्र रह जाता है।

तमान्धकार में जीव, जगत रूपी गहरी खाई में धंसता चला जा रहा है, वासनाओं ने उसे पंगु बना दिया है। जिस अभिमान को वह अपनी शक्ति समझता है, वही उसकी सब से बड़ी दुर्बलता है। उस पर सबसे बड़ी बात यह, कि जीव यह समझ नहीं पाता कि वह मायाजाल में कसा हुआ, जकड़ा पड़ा है। जब कभी उसके पुण्य संचित कर्मों का उदय होता है तो उसे अपनी दयनीय स्थिति का भान होता है। तब वह किसी प्रकार, इस मायाजाल से छुटकारे के लिए हाथ-पांव मारता है, किन्तु अभिमान उसके प्रयत्न में भी आड़े आ जाता है। वह जितना अधिक प्रयत्न करता है, उतना ही अधिक धंसता चला जाता है। तब उसे किसी दूसरे सहारे की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस दूसरे सहारे को ही गुरू कहा जाता है, जहां से गुरू शक्ति शिष्य पर गिरती है। गुरू की चित्त शक्ति के सहारे का प्राप्त हो जाना ही शक्तिपात् है।

सूत्र है:- तत्पातः शिष्येशु ।।1-7।। अर्थात् उस शक्ति का पात् शिष्यों पर होता है, ज़िससे शक्ति जो कि सोयी थी जाग जाती है। सोना तथा जागना, दोनों पारिभाषिक औपचारिक शब्द हैं इन्द्रियों से शक्ति की अभिन्नता का आभास, प्रसुप्तावस्था है तो इन्द्रियों से शक्ति की भिन्नता की अनुभूति जाग्रतावस्था है। प्रसुप्तावस्था में बर्हिमुख प्रवाह तथा जाग्रत में अन्तर्मुख प्रवाह होता है। इसी प्रकार कर्तृत्वाभिमान प्रसुप्तावस्था है तो द्रष्टाभाव की प्रत्यक्ष अनुभूति जाग्रतावस्था। जागृति में संस्कारक्षय, तो सुप्तावस्था में संस्कार संचय होता है। जाग्रावस्था को ही प्राणों का उद्बोधन अथवा प्राणोत्थान कहा जाता है यथा:-

ततः शक्त्युद्बोधनम् ।।1-8।।
तथा प्राणोत्थानम् वा ।।1-9।।

गुरू कैसा?

यो तो साधकों में गुरू बनने की इच्छा, सामान्य बात है, किन्तु साधन में उन्नति के मार्ग में, इस इच्छा का होना बड़ा भारी विघ्न है। इस ग्रन्थ का सूत्र है:- ब्रह्मनिष्ठों वेधकः शक्तिपातक्षमश्च गुरूः ।।2-2।। अर्थात् जो ब्रह्मनिष्ठ, छट चक्रों वेध करने वाला तथा शक्तिपात करने में सक्षम हो, वही गुरू है। वैसे तो शास्त्रों में सद्गुरू के अनेकों लक्षण दर्शाये गये हैं जैसे निराभिमानी, नम्र, सौम्य, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त पर- हितकारी, अक्रोधी इत्यादि किन्तु इन सभी लक्षणों का समावेश एक ही शब्द ब्रह्मनिष्ठ में हो जाता है। जो शक्तिपात् करने में समर्थ हो जिसके परिणाम-स्वरूप मूलाधारादि छहों चक्रों का भेदन हो जाता हो।

निग्रहानुग्रह क्षमश्च ।।2-3।। अर्थात् जो निग्रह तथा अनुग्रह दोनों में समर्थ हो। अनुग्रह का अर्थ तो स्पष्ट है। गुरू द्वारा कृपा करके शिष्य की जागृत का अनुभव करा देना। किन्तु निग्रह के बोर में थोड़ी मतभिन्नता है। कई गुरूओं का विचार है कि यदि शिष्य से कुछ अनुचित कार्य हो जाए, तथा गुरू उस पर रूष्ट हो जाएं, तो शिष्य की शक्ति की क्रियाओं को बन्द कर दे शिष्य को दण्डित करना निग्रह है। दूसरा मत श्री गुरू महाराज का है। वह कहा करते थे कि दीक्षा के समय गुरू शिष्य के लिए मंगल कामना करते हैं, अतः अब, कैसी भी, परिस्थिति हो, उसके प्रति अमंगल कामना क्यों कर कर सकता है। यदि शिष्य को दण्ड देना ही हो, तो शक्ति अपने आप उसको देगी। निग्रह का अर्थ, शक्ति की अनियमितता अथवा अति तीव्र क्रियाओं को संयमित तथा नियमित कर देना ही अनुग्रह है। उन्होंने इस सूत्र की व्याख्या में लिखा भी है:- निग्रह से शिष्य के वेग को कम किया जा सकता है। गुरू के लिए अनुग्रह का सामर्थ्य जितना आवश्यक है, उतना ही निग्रह करने का भी है। क्योंकि कभी-कभी अधिक वेग हो जाने पर, उसे कम करने की भी जरूरत पड़ जाती है। ऐसा ही गुरू शिष्यों के वेग को संयत रख सकता है।

वास्तव में गुरू कोई शरीर है ही नहीं। सभी जीवों के अन्तर में विद्यमान ईश्वर तत्व ही गुरूतत्व है। जिस मनुष्य के समक्ष गुरूतत्व प्रत्यक्ष है, वही गुरूकार्य कर सकता है। यहां गुरूतत्व का प्रत्यक्षीकरण कहा, गुरूतत्व की क्रियाशीलता की अनुभूति नहीं क्रिया की अनुभूति चित्त के संस्कारों का परिणाम है जबकि गुरूतत्व की प्रत्यक्ष अनुभूति शुद्ध तथा निर्मल हृदय का विषय है। गुरू बनने की इच्छा (वासनामय) के अधीन गुरू बनने तथा चित्त के अत्यन्त निर्मल हो जाने पर, गुरूकार्य करने की क्रिया के प्रकट होने में बड़ा अन्तर है। जिसको अन्तर से ऐसी क्रिया हो वही सद्गुरू है। सद्गुरू को गुरूपने का अभिमान नहीं। जिस प्रकार साधक को शक्तिशाली प्रकट क्रियाओं का अभिमान नहीं होना चाहिए, इसी प्रकार सद्गुरू भी इस क्रिया के अभिमान से रहित होता है।

गुरू शिष्य संबंध शुद्ध आध्यात्मिक आधार पर ही स्थापित होना चाहिए, जिसमें गुरू के मन में शिष्य के प्रति केवल मंगलकामना ही हो, तथा शिष्य के मन में गुरू के प्रति देवतुल्य श्रद्धा हो भौतिक कामनाओं तथा इच्छाओं का किसी में भी विद्यमान होना, गुरू शिष्य दोनों के लिए अमंगलकारी है। यदि दीक्षा के समय गुरू के मन में कुछ अशुद्धि हो, तो शक्ति के साथ ही, उस अशुद्धि का भी, शिष्य पर आक्रमण हो सकता है। इसी प्रकार यदि दीक्षा के समय शिष्य के अन्दर किसी प्रकार के विकारों का उदय या उदारता हो, तो शक्ति वापिस जाते समय उन संस्कारों को भी, गुरू ले जा सकती है।

शिष्य कैसा?

अधिकारी शिष्य होने का मन में अभिमान, स्वयं में एक बड़ा दोष है। वैसे भी शास्त्रों में अधिकारी शिष्य के जो लक्षण दिये गये हैं, यदि वह सभी किसी शिष्य में हो तो उसे कहीं जाने की आवश्यकता ही नहीं। वह सभी लक्षण आदर्श रूप समक्ष रख वैसा बनने के लिए प्रयत्नशील अभीष्ट हैं एक बात तो स्पष्ट ही है कि साधक को जब

किसी बात का अभाव खटकता हैं तभी शिष्य बनकर किसी गुरू की शरण ग्रहण करता है।

मुख्य बात यह है कि शिष्य को अपने दोष देखने की आदत, तथा उन्हें दूर करने की अभिलाषा तथा प्रयत्न का होना अनिवार्य है। जब तक दोष अधिक रहते है। तब तक शिष्य को दीक्षा ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। पाप–पुण्य के संस्कारों की साम्यता होने पर शक्तिपात् होना सम्भव एवं उचित है। महाराज श्री ने भी लिखा है:– तत्तुसति धर्माधर्मयो: साम्ये ।।2–29।। शक्तिपात धर्म तथा अधर्म की साम्यावस्था होने पर होता है। अत: साधक–शिष्य को सदा ही अपने अधर्म मूलक दोषों के प्रति सजग रहने की आवश्यकता है। दोषों के ध्यान केन्द्रित होने से उसके अभिमान पर चोट पड़ती रहेगी। यदि उसका लक्ष्य अपने गुणों की ओर चला गया तो उसमें अभिमान पैदा हो ज़ाएगा।

अत: शिष्य को कभी भी अपने आप अधिकारी शिष्य मान लेने की भूल नहीं करना चाहिए दीक्षा शिष्य के अधिकार से प्राप्त नहीं होती, वरन् गुरू की कृपा ही उसका हेतु है। कई शिष्य गुरूओं पर आक्षेप करने से भी नहीं चूकते कि अमुक गुरू अनाधिकारी को भी दीक्षा देते हैं। गुरूओं की बात गुरूओं पर छोड़ देना ही उचित है। इसका यह भाव भी निकलता है। कि वे शिष्य अपने आप को अधिकारी समझते हैं। सच्ची बात तो यह है कि यदि कड़ाई से अधिकार–निर्णय का पालन किया जाय तो सम्भवत: किसी की दीक्षा हो ही नहीं।

इसका यह भाव भी नहीं है। कि शिष्य को अधिकारी बनने के अपने प्रयत्न की ओर से उदासीन हो जाना चाहिए। इसके लिए उसे सदैव ही प्रयत्न करते रहने की आवश्यकता है।

शक्ति उद्बोधन के पश्चात् क्या?

शक्ति–उद्बोधन का प्रथम द्रष्टाभाव का उदय हो जाना है।

तब साधना के समय शिष्य को ऐसी अनुभूति आरम्भ हो जाती है कि शक्ति उससे भिन्न है। अब तक वह जो कुछ भी साधना उपासना करता रहा था, सबको अपनी मान कर अहंकार युक्त था। अब उसे अभिमान रहित क्रियाओं की अनुभूति होने लगती है। शक्ति की भिन्नता के अनुभव हुए बिना कर्ताभाव विलीन होना आरम्भ नहीं होता। कर्तापन के अभावनात्मक भाव की भावना भी अभिमान ही है। जब यह प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता कि करने वाली शक्ति मेरे से भिन्न है। तब तक कर्ताभाव बना रहता है। मिथ्या, द्रष्टाभाव, कर्ताभाव के अभिमान को उलटा और अधिक बढ़ाने का ही कारण होता है।

महायोग सिद्धि–

मन्त्र, हठ, लय तथा राज, चार प्रकार के योग माने गये हैं। ततो महायो सिद्धि ।।1–10।। शक्ति जाग्रत होने पर महायोग सिद्ध हो जाता है। सिद्ध का अर्थ है स्वाभाविक। अपने स्वभाव, चित्त–स्थिति तथा संस्कारों के अनुरूप घटित होने वाला अनायास–योग। जिसमें चारों योगों का एक ही योम में समावेश हो जाता है जिसे सिद्ध महायोग, सिद्धोपाय, या स्वयं सिद्ध साधन कहा जाता है। योग दर्शन में इसी को ईश्वर प्राणिधान तथा नारद भक्त सूत्र में परम–प्रेम–रूपा भक्ति कहा गया है। भगवद्गीता में इसे ही परा–भक्ति अथवा राजविद्या राजगुह्य नामकरण किया गया है। तंत्र का अन्तयोग भी यही है तथा मंत्र शास्त्र में इसे ही मन्त्र–चैतन्य कहा गया है। तब चेतना पृथक चेतना का रूप धारण कर, आत्मामुखी आन्तर्यात्रा आरम्भ कर देती है। जगत्नियंता मां अम्बां, या आह्लादिनी अथवा कुण्डलिनी की अन्तर्लीलाएं अन्तर में आरम्भ हो जाती है। जिन्हें साधक मन्त्र–मुग्ध बना देखता रहता है। इन लीलाओं के देखकर कभी चकित रह जाता है, कभी भयभीत हो जाता है तो कभी लज्जा, घृणा, वीभत्स, श्रृंगार अथवा शान्त भाव आदि पैदा हो जाते हैं।

अब तक उपरोक्त चारों प्रकार के योगों में से वह जिस किसी का भी अभ्यास करता था उसमें उसका पुरूषार्थ ही मुख्य होता था

किन्तु अब जागृति के पश्चात् उसे पुरूषार्थ का यथार्थ स्वरूप की समझ आने लगती है। अब तक वह प्रयत्न करने को ही पुरूषार्थ मानता रहा था। किन्तु कर्तृत्वाभिमान प्रयत्न का तो संस्कार संचय होने लगता है। जब स्वतः सिद्ध साधन आरम्भ होता है तो यह स्पष्ट होने लगता है कि समर्पण ही पुरूषार्थ है। अपनी इच्छा या प्रयत्न का हस्तक्षेप समर्पण भाव को शिथिल कर देता है। शक्ति जागृत करने के दो उपाय योग दर्शन में कहे गये हैं।

(1) वीत राग विषयं वा चित्तं अर्थात् जिसका चित्त वीत राग हो गया हो, उसकी चित्त शक्ति का अवलम्बन लेने से।

(2) श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेशाम् अर्थात् दूसरे लोगों को श्रद्धा-वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा के सतत् निरन्तर श्रद्धापूर्वक दीर्घकालीन साधना के अभ्यास से।

कुछ लोगों के मत में महायोग कैसे भी प्राप्त हो वह महान ही है क्योंकि उसमें चारों योगों का समावेश है किन्तु सूत्रकार के मतानुसार उसकी महानता इसी में है कि वह शक्तिपात के द्वारा सहज प्राप्त हुआ। अर्थात् महानता का कारण, चारों योगों का समावेश तो है ही, महानता का विशेष कारण उसकी सहज सुलभता में है। महान् किं? विशेषत्वाच्छक्त्युदबोधने तत्सिद्धेः ।।1-15।। अर्थात् महानता क्यों? विशेषता के कारण, शक्ति के उद्‌बोधन से उसकी सिद्ध होने से।।

आसन-प्राणायाम-बन्धमुद्रादयो हठः ।।1-17।। अर्थात् आसन मुद्रा-प्राणायाम बन्ध दत्यादि हठ योग है। जिस साधक में हठ

योग के संस्कार होंगे, उसमें अनायास ही साधन में आसन, प्राणायाम, बन्द तथा मुद्राएं घटित होने लगेंगी।

स्वाध्यायेश्व प्रणिधाने मन्त्र योगः ।।1-19।। अर्थात् स्वाध्याय तथा ईश्वर प्राणिधान मन्त्र योग है। मन्त्र जप अनायास ही होने लगता है, कभी बोल बोलकर, कभी मन ही मन तो कभी अजपा-जप।

चित्ते लीने लयः ।। 1-21।। चित्त लीन होने पर लय योग होता है। मन स्वतः ही एकाग्रता के संस्कार उदय होने पर किसी मंत्र, दृश्य, प्रकाश, नाद या भगवद् विग्रह में अनायास ही लीन हो जाता है। मन किसी विषय पर भी लीन हो सकता है, तथा निर्विषय भी।

तदुपरि राजयोगः सहस्त्रारे ।। 1-30।। उसके ऊपर सहस्त्रार में राजयोग होता है। शक्ति अपनी क्रियाशीलता में ऊपर चढ़ती हुई जब आज्ञा चक्र को पार कर जाती है तो राजयोग होता है। यह स्थिति भी स्वयमेव ही आती है।

पंचकोष निवृत्ति-

कोष का अर्थ है खोल। जिस प्रकार कोई एक के ऊपर एक, पांच प्रकार के वस्त्र धारण कर ले, उसी प्रकार स्तर पर, आत्मतत्व भी पांच कोषों से लिपटा हुआ हैं यह पांचों शीशे के खोलों की भांति है जिससे प्रकाश छन कर दूसरे खोल में प्रवेश करता है। जब एक खोल में से प्रकाश अथवा चेतना नीचे के खोल में प्रतिष्ठित होती है तो उसमें स्थूलता तथा जड़त्व अधिक घनीभूत हो जाता है। सब बाहर का कोश अन्नमय कहा जाता है। यहां आकर जड़ता अपनी पराकाष्ठा को पहुंच जाती, किन्तु फिर भी भौतिकता के आधार पर चेतना की कुछ अनुभूति बनी रहती है। इस वाह्य अन्नमय से चेतना जब वाह्य जगत में प्रतिबिम्बित होती है तब तो चेतना की अनुभूति एक दम विलीन हो जाती है। यद्यपि वाह्य जगत का ज्ञान चेतना के कारण ही होता है किन्तु उस चेतना की ओर जीव का लक्ष्य नहीं जा पाता। तब जीव पूरी तरह जगत के रंग में ही रंगा जाता है। आत्मज्ञान के स्थान

पर, जगत का भौतिक ज्ञान चित्त में प्रतिबिम्बित होने लगता है। चित्त में पूरी तरह भौतिकता छा जाती है।

आनन्दमय कोष– यह आत्मतत्व पर पड़ा हुआ, प्रथम आवरण है। चित्त के साथ आत्मिक शक्ति का तादात्य होने, आनन्द की विकृति के रूप में यह खोल लिपट जाता है। इस कोष के आनन्द कभी अधिक होता है तो कभी कम, अर्थात् यह आत्मा का स्वाभाविक आनन्द नहीं जोकि चित्त के आधार पर अनुभव होता है। जब शक्ति से जड़ चित्त जगत को अपने से भिन्न देखता है तो यह आवरण आ जाता है। जड़ चेतना की ग्रन्थि भी इसी कोष में पड़ जाती है जिस कारण इसी को अविद्या या कारण शरीर भी कहा जाता है। यह शक्ति के प्रसव क्रम की प्रथम क्रिया है। अज्ञान की प्रथम ग्रन्थि से उदय ग्रन्थि को यहां अहम् को अस्मिता नाम दिया जाता है। यद्यपि अस्मिता सात्विक तथा आत्मा के बहुत समीप होती है। किन्तु फिर भी, जीव के भावी दुःखों का मूल कारण यही है। तस्य हेतु अविद्या (यो.द.) अर्थात् दुखों का मूल कारण अविद्या ही है। यही तंत्र का माया मल है।

विज्ञानमय कोष– इस खोल में अस्मिता, अहंकार का रूप ग्रहण कर लेता है। वास्तविक द्रष्टा तथा ज्ञाता को पीछे धकेल कर, चित्त में 'मैं ही कर्ता हूँ' का भाव पैदा हो जाता है। यही जीव भाव है। आत्मभाव आत्मा से पतित होकर, चित्त में स्थिर हो जाता है। तब अकर्ता आत्मा को करना मान बैठता है। मेरा आत्मा सुखी है, दुखी है, आदि समझने लगता है। इस प्रकार विपरीत–ज्ञान इसी कोष की देन है। जगत बहुत बड़ा तथा अपने आप को छोटा समझने का भाव पैदा हो जाता है। यही तंत्र का आणवमल है। अणु में शक्ति तो कुछ होती नहीं किनतु शक्तिमान् बुद्धिमान होने का मिथ्या अभिमान बहुत होता है। जीव न होता हुआ भी, कतृत्व, भोगतत्व के चक्र में उलझ जाता है।

मनोमय- इस कोष में अहंकार में इच्छा-शक्ति उदय से उठती है जिससे चित्त में संकल्प-विकल्पात्मक रूपी मन की क्रिया आरम्भ हो जाती है। मन, ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होकर जगत का विपरीत ज्ञान संचय करता, भांति-भांति से राग-द्वेष युक्त होता हुआ, शोक मोह रहित आत्मा को शोक मोह ग्रसित रूप में प्रकट करता है। आत्मा में कोई शंका नहीं किनतु उसे शंकायुक्त, प्रस्तुत करता है। चित्त के अनदर का अहंकार अभिमान के स्तर पर नीचे उतर जाता है। संस्कार-संचय इसी कोष का कार्य है क्योंकि इच्छाऐं, कामनाएं यहां ही स्थान पाती हैं। मन की आसक्ति भी यहीं होती है जोकि संस्कार संचय का मुख्य कार्य है। सुखी-दुखी तो अहंकार होता है किन्तु उसकी प्रथम अनुभूति मन में होती है। इस प्रकार चेतन प्रसव क्रम में नीचे उतरता हुआ, एक के पश्चात् एक खोल पहनता चला जाता है। मन तथा ज्ञानेन्द्रियों का संयोग इसमें मुख्य आधार है।

प्राणमय कोष- यह चौथा खोल क्रिया प्रधान है जिसमें पांचों-प्राणों (प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान) और पांचों कर्मेन्द्रियों का समावेश है। चेतना पांच प्रकार क्रियाओं में विभक्त होकर पांच प्राण कहलाती है जोकि भौतिक कर्मेन्द्रियों को कार्यशील बनाती है। शरीर में रूधिर की गति तथा श्वास प्रश्वास की क्रिया, पंच प्राणों के ही अधीन है। यह कोष आत्मा को आच्छादित कर उसे वक्ता, दाता, गतिशील वत् दर्शाने का कारण बनता है। आत्मा क्षुधापिपासरहित होता भी भूखा-प्यासा भासित होता है। विज्ञानमय कोष, मनोमय कोष तथा प्राणमय कोष, यह तीनों ही सूक्ष्म शरीर हैं। मृत्यु समय पंच ज्ञानेन्द्रियां पंच कर्मेन्द्रियां, पंच प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार तथा संस्कार आशय, सूक्ष्म शरीर में विलीन होकर भौतिक देह का त्याग कर देता है।

अन्नमय कोष- यह पांचवा खोल है। यह अन्न से वृद्धि को प्राप्त होता है, स्थिर रहता है तथा अन्न के न मिलने पर सूखने लगता है।

अन्न से ही रज-वीर्य बनता है तथा रज-वीर्य से ही शरीर उत्पन्न होता है किन्तु, अन्न को पचान, रूधिर का प्रवाह तथा अन्न को रजवीर्य में परिवर्तित करना, प्राणमय कोष के अन्तर्गत है। अन्नमय कोष के कारण ही अपरिछिन्न आत्मा, परिछिन्न, भासित होता है। तथा अविभक्त, विभक्तवत् दिखाई देता है। आत्मा में जरा मृत्यु तथा जन्म नहीं है किन्तु यह सभी आत्मा में दिखाई देते हैं इसी को स्थूल शरीर भी कहा जाता है। स्थूल-शरीर से ही, ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जगत का ज्ञान प्राप्त होता है तथा कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्म किया जाता है।

यह शक्ति का प्रसव-क्रम है। जब साधक, साधना का आश्रय ग्रहण कर, प्रतिप्रसव क्रम की यात्रा आरम्भ करता है जिसके लिए पहले उसे स्थूल शरीर से ऊपर उठना होता है, फिर प्राणों पर नियंत्रण प्राप्त कर, मनोमय कोश को पार करना होता है, तत्पश्चात् अहंकार रूपी विज्ञानमय कोष की बारी आती है तथा अन्त में आनन्दमय कोष की। अभ्यास के मार्ग में साधक को सर्वप्रथम स्थूल शरीर से लक्ष्य को हटाकर प्राणमय कोष में प्रवेश करना होता है। तत्पश्चात् प्राणायाम के अभ्यास द्वारा प्राणमय से आत्मभाव हटाकर, तथा इन्द्रियों को अन्तर्मुख समेटकर, मनोमय में स्थिति होना होता है। फिर मनोमय कोष से भी ऊपर उठकर विज्ञानमय कोष में स्थिति स्थापित करना होती है। फिर विज्ञानमय से लक्ष्य हटाकर आनन्दमय कोष में प्रवेश पाना होता है। किन्तु ऐसा कर पाने के लिए अनथक अभ्यास तथा अत्यन्त धैर्य आवश्यक है। दीर्घकाल तक साधना की आवश्यकता होती है। साधनाक्ष्युत हो जाने का संकट पग-पग पर बना ही रहता है। बिना किसी अवलंबन के अपने प्रयत्न से साधन मार्ग पर लौटकर आना होता है। परिणाम यह है कि लाखों-करोड़ों प्रयत्न करने वालों में से कभी कभी, कहीं एक आध ही कोई गंतव्य तक पहुंच पाता है। इससे अच्छा तो यह है कि जिस शक्ति के प्रसव-क्रम में प्रवाहित होने पर जीव, भव-जाल में जकड़ा पड़ा है, उसी शक्ति

का सहारा लिया जाये। यदि उसकी कृपा प्राप्त हो जाये तो उसकी आत्माभिमुखी क्रियाओं से सहज ही मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इतना सहज तो यह भी नहीं क्योंकि जीव का अहंकार, उसे किसी शक्ति को समर्पण करने में, बाधक बनकर खड़ा हो जाता है। फिर भी गुरूकृपा का संबल तो रहता ही है।

अभ्यास के मार्ग में भी एक बात स्पष्ट है कि कोषों को अपने से पृथक देखने का अभ्यास करना होता है अर्थात् अपने आपको द्रष्टाभाव में स्थित करना होता है। इसके लिए साधक को कई प्रकार की भावनाएं करना पड़ती है। ध्येय के लिए भी कुछ न कुछ, कल्पना करना पड़ती है। चित्त की चंचलता के कारण किसी ध्येय पर चित्त की एकाग्रता भी एक समस्या है। किन्तु शक्ति साधन में संस्कारानुसार शक्ति की स्वयं सिद्ध क्रिया अभिमुख होती है। साधक कहीं अधिक सुगमता से कोषों के आवरण को उतार पाने में समर्थ होता है। अभ्यास भावना का मार्ग है तो शक्तिपात, साधना भाव का।

शक्तिपात का प्रथम प्रभाव प्राण पर होता है अर्थात् प्राणमय सबसे पहले प्रभाव करता है क्योंकि शक्ति सबसे पहले क्रिया रूप में अन्तर में जाग्रत है तथा प्राणमय कोष ही क्रिया प्रधान है। अभ्यास के मार्ग में मन को, प्रथम स्थिर करने का प्रयत्न किया जाता है किन्तु, शक्तिपात में मन को स्पर्श तक नहीं किया जाता अपितु प्राण को ही अर्न्तमुख किया जाता है प्राण भी, केवल प्राणमय कोष में कार्य नहीं करता वरन् सभी कोश प्राण की क्रिया के ही आश्रित हैं किनतु जीव की कार्यशीलता अर्थात् कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म, जिस कोश के अधीन है उसे ही प्राणमय कोष कहा जाता है। इसलिए सामान्यतः शक्ति की जागृति के पश्चात् देह तथा इन्द्रियों के आधार पर घूर्णा, कम्पन्न, उछलना, रूदन, हंसना आदि क्रिया जिनहें वाह्य शारीरिक देह तथा इन्द्रियों के आधार पर शारीरिक क्रियाएं घटित होती है। जीव में देहध्यान सब से अधिक प्रबल है क्योंकि वह शरीर सुख को ही

सर्वोत्तम समझता है। अतः संस्कार भी अधिकतर भौतिक शरीर से सम्बन्धित ही संचित होते हैं। वैसे भी, वर्तमान में, जीव के सभी कोशों में से सब से अधिक दृढ़ देहाध्यास ही है, इसलिए उसको वहीं से ऊपर उठना है। इसलिए शारीरिक संस्कारों का पहले उदय होकर, शारीरिक क्रियाओं का ही सर्वप्रथम घटित होना अधिक सम्भव है।

ऐसा नहीं कि यह कोष एक-एक कर के उतरते हैं, वरन् सभी कोषों पर क्रियाएं एक साथ ही आरम्भ हो जाती है। यह भी आवश्यक नहीं कि शक्ति की जागृति मूलाधार से ही हो। किसी भी चक्र से जागृति हो सकती है। ऐसा भी नहीं कि चक्रों का क्रमिक बोध ही होता है, कभी कोई चक्र तो कभी कोई चक्र क्रियाशील हो जाता है, कभी-कभी एक साथ दो-दो तीन-तीन चक्रों पर एक साथ क्रियाएं भी घटित होने लगती हैं। इसी प्रकार कोषों की स्थिति है। कभी किसी कोष में, शक्ति की क्रियाशीलता प्रकट होती है। यह इस बात पर आधारित है कि किस-किस कोष के संस्कार किस क्रम से चित्त में संचित हैं। सभी साधकों के संचय का क्रम एक जैसा नहीं है इस लिए साधकों में क्रियाओं का एक क्रम भी निश्चित नहीं किया जा सकता। कभी किसी में शारीरिक क्रियाएं होते होते, मनोमय कोष की क्रियाऐं आरम्भ हो जाती है तो कभी विज्ञानमय कोष की।

कर्म तथा कर्म करने के पृथक-पृथक संस्कार संचय होते हैं। इसी प्रकार भोगों तथा विषयों के भोग तथा उन भोगों को भोगने के संस्कार भी पृथक-पृथक है। कर्म तथा भोग यदि अन्नमय कोष के संस्कार हैं तो भोग भोगने तथा कर्म करने के संस्कार, प्राणमय कोष के है। भोग यदि तमोगुण हैं तो भोग-भोगना रजोगुण है। भोग तथा कर्म के आसक्ति के संस्कार मनोमय कोष के है।

इस प्रकार एक ही भोग भोगता अथवा एक ही कर्म करता हुआ जीव तीन प्रकार के संस्कार संचय कर लेता है। इसी प्रकार यदि किसी विषय पर ध्यान की एकाग्रता का अभ्यास करता है, तो एकाग्रता मन से होती है उसका संस्कार भी मनोमय कोष का होता है

किन्तु उसके अभ्यास करने का संस्कार प्राणमय कोष का है। इस एकाग्रता से उसे जो ज्ञान प्राप्त होता है विज्ञानमय कोष का है। यदि कभी एसे ध्यान करते समय निर्विष्य अवस्था प्राप्त हो जाती है, तो उसके संस्कार आनन्दमय के होते हैं। इस प्रकार कर्म तथा साधना, में जब जीव कर्तृत्वभिमान युक्त करता है तो विभिन्न कोषों के संस्कार संचय करता है। शक्ति की जागृति होने के पश्चात् जब संचित संस्कार क्रियाओं के माध्यम से बाहर निकलने लगते हैं तो उसी कोष या आवरण को अपनी क्रियाशीलता से शिथिल करने का कारण बनते है।

क्रियाओं का लक्ष्य वृत्ति-निरोध-

शक्तिपात के द्वारा उद्बोधित शक्ति की क्रियाओं का लक्ष्य केवल करना ही नहीं है अपितु जैसा कि योग का लक्ष्य योग दर्शन में दिया गया था सूत्रकार ने जिसे इस ग्रन्थ में भी मान्य किया है, वृत्तिनिरोध करना है। यह ठीक है कि साधक को क्रियाओं में आनन्दानुभूति होती है, किन्तु फिर भी यह साधन ही है, साध्य नहीं। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि प्रथम पाद के अनुसार शक्तिपात का प्रयोजनीय विषय समाधि लाभ है। ततः द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।।1-32।। तब द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति होती हैं स्वरूप स्थिति की प्राप्ति के लिए चित्त का निरूद्ध होना आवश्यक है। तथा चित्त निरोध के लिए सकल वृत्ति निरोध आवश्यक है। जब तक कोई क्रिया घटित होती रहेगी, तब तक, चित वृत्ति के समक्ष ध्येय रूप में बनी रहेगी। जब तक ध्येय रहेगा, तब तक चित्त की कार्यशीलता भी बनी रहेगी। चित्त की कार्यशीलता, तथा चित्त वृत्ति निरोध दोनों एक साथ सम्भव नहीं।

साधक के लिये सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि संचित संस्कारों को वासना का रूप ग्रहण करने से कैसे रोका जाए क्योंकि वासना बनने पश्चात्, वह वृत्ति के माध्यम से संकल्प-विकल्पात्मक

मन के रूप में कार्य करेगी ही, जिससे आगे भी संस्कार संचय होता रहेगा। निष्काम कर्म योग के अभ्यास से वह प्रारब्ध तो क्षीण कर सकता है किन्तु संचित संस्कारों का क्या करें? वैसे ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानाग्नि तथा योगाग्नि से संस्कारों को दग्ध किया जा सकता है किन्तु सिद्धान्त स्थापित करने तथा कार्य रूप देने में बड़ा अन्तर है। संस्कार वासना के माध्यम से चित्त को सतत् प्रभावित करने में लगे रहते हैं। हर समय मन फिसलन भरी भूमि पर खड़ा रहता है, गिरने का भय बना ही रहता है। साधक अन्तर में ज्ञान अथवा योग की अग्नि को प्रज्वलित करता है कि विषय रूपी वायु का अंधड़ उसे आकर बुझा देता है। उधर प्रारब्धवशात् कर्मफल का सामना कर पाना भी इतना सरल नहीं है। इसके लिए भी चित्त का संतुलित एवं स्थिर रहना आवश्यक है। इसके लिए साधक क्या करें?

इस समस्या का समाधान, शक्तिपात के पश्चात् स्वयं सिद्ध साधन से, अपेक्षाकृत कहीं अधिक सहज सम्भव है। शक्ति के उद्‌बोधन का अर्थ है शुद्ध चैतन्य अथवा कुण्डलिनी का इन्द्रियों के आधार पर, उसकी क्रियाशीलता का अनुभव आरम्भ हो जाना। इससे ही प्राण का उत्थान, शक्ति की जागृति अथवा चेतना का प्रत्यक्ष चेतना होना कहा जाता है। यह परिणाम् शिष्य के द्वारा गुरू की अन्तर, जागृत शक्ति का अवलम्बन प्राप्त होने पर, घटित होता है। गुरू द्वारा अपनी शक्ति का शिष्य को अवलम्बन प्रदान करना ही गुरू कृपा अथवा अनुग्रह है। योग दर्शन में कहा है, ''वीतराग विषयं वा चित्तम्'' योग दर्शन के इसी सूत्र को, सूत्रकार ने इस ग्रन्थ में भी उद्‌घृत किया है।

जागृति के पश्चात् साधन-समय, संस्कारों को उभारना, तथा वासना का रूप ग्रहण करने से पूर्व ही उन्हें क्रिया का रूप दे देना, होता है। वृत्तियां, वासनाओं से ही प्रभावित होती हैं। यदि वासना ही न हो, तो शक्ति स्पनदनशील ही रहती है, आन्दोलित नहीं हो पाती।

तब वृत्तियां भी स्वाभाविक ही उदय होती है, अस्वाभाविक नहीं। अस्वाभाविक वृत्तियां मानसिक संकल्प उदय करती है। उधर संस्कार भी, मानसिक संकल्पों से स्वतंत्र, क्रियाशील होते हैं। इसीलिए कहा जाता है। कि क्रियाओं में मन का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं होता। उसका परिणाम यह होता है कि संस्कार क्रियाओं के माध्यम से क्षीण तो हो जाते हैं, किनतु दूसरे अन्य संस्कार संचय नहीं का पाते। मानसिक संकल्प तथा आसक्ति ही संस्कार संचय में कारण है।

इस प्रकार पूर्व संचित संस्कार तो शक्ति की क्रियाओं के माध्यम से क्षीण होने लग जाते हैं किनतु समस्या यह है कि व्यवहार के समय साधक जो नये संस्कार संचय करता है, उनको किस प्रकार रोका जाए। क्योंकि जब तक संस्कारों का संचय बन्द नहीं होगा, चित्त कैसे शुद्ध हो सकता है तथा वृत्ति निरोध की स्थिति भी कैसे सम्भव हो सकती है। प्रायः होता यह है कि साधक नये संस्कार संचय करने तथा उन्हें क्षीण करने के ही चक्र में उलझा रहता है क्योंकि जो नए संस्कार संचय होते हैं वह संस्काराशय में सबसे ऊपर होते हैं तथा वहीं क्रियाओं के माध्यम से क्षीण भी होते हैं। इस तरह नये संस्कारों के संचय तथा क्षीणता का क्रम ही चलता रहता है। पुराने संचित संस्कारों को क्षीण हाने तथा उभर कर ऊपर आने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। परिणामतः साधक की आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो पाती। इसके लिए संस्कारों का नया संचय रोकना अत्यन्त आवश्यक है जिसके लिए साधन के साथ-साथ, व्यवहार समय में, साधक को व्यवहार शुद्धि के लिए सचेष्ट-सावधान रहने की नितान्त आवश्यकता है। इसीलिए योग दर्शन में अष्टांग योग का आरम्भ यम नियम के करने का विधान है। यम का अर्थ जगत से व्यवहार कैसे करना तथा नियम का अर्थ, उस व्यवहार को करने के लिए, अपने आपको नियमित-संयत कैसे करना। व्यवहार शुद्धि के बिना योग मार्ग में गति असंभव है। इस ग्रन्थ में चाहे इस ओर संकेत नहीं किया गया, क्योंकि यह इस ग्रन्थ का विषय ही नहीं है। यहां पर आन्तरिक साधना

पर लक्ष्य स्थिर करके ही सूत्र-रचना की गई है किन्तु साधक, इस विषय की उपेक्षा नहीं कर सकता। शक्ति की क्रियाशीलता का उद्देश्य संस्कार क्षीण करना है ताकि वृत्ति निरोध का मार्ग प्रशस्त हो सके। ठीक है कि क्रियाओं का आनन्द एक लाभ के रूप में साधक को प्राप्त होता है। शक्ति की सबसे बड़ी क्रिया, कोई भी क्रिया का न होना है जिसके लिए शक्ति को पहले क्रियाशील होना पड़ता है जिस प्रकार कर्म करते हुए, कर्म से अतीत अवस्था प्राप्त होती है उस प्रकार क्रिया से ही क्रियातीत अवस्था उदय होती है। तब शक्ति अपने शुद्ध, निर्मल तथा आनन्ददायक कल्याणकारी रूप में साधक के अन्तर में, साधक के समक्ष प्रकट होती है। इन्द्रियों तथा चित्त के आधार पर शक्ति की क्रियाशीलता की अनुभूति एक बात है तो इन्द्रियातीत मनोनीत शक्ति की, शक्ति के रूप में अनुभूति दूसरी बात है। क्रिया तभी सम्भव है जब शक्ति को इन्द्रियों अथवा चित्त का आधार प्राप्त होता है। इस आधार के बिना शक्ति की अनुभूति ईश्वर दर्शन कही जा सकती है। यह ग्रन्थ चूंकि दार्शनिक दृष्टिकोण से लिखा गया है। इसलिए शक्ति क्या है? उसकी जाग्रति क्या है? कैसी जाग्रत होती है? जागकर किस मार्ग से अन्तर्यात्रा करती है? क्या-क्या स्तर आते हैं? तथा इस साधन का फल क्या है? यह सब वर्णन करना आवश्यक या अन्यथा उन्नति का माप दण्ड क्रियाएं नहीं, अपितु चित्त स्थिति है। यदि उग्र क्रियाएं अनुभव होती है तो इसका अर्थ यह नहीं साधन बहुत अच्छा चल रहा है, वान् इसका अर्थ यह है चित्त में रजोगुण की अधिकता है। सत्वगुण प्रधान व्यक्ति को सौम्य क्रियाएं ही होंगी। जैसे-जैसे संस्कारों तथा वासनाओं के आवरण उतरते जाते हैं, शक्ति ऊपर चढ़ती जाती है तथा क्रिया में सूक्ष्मता आती जाती है। उतना ही विषय का आकर्षण तथा क्रोधादि विकार शिथिल होते जाते हैं। यदि चित्त स्थिति में अन्तर नहीं आ रहा है तो कितनी भी उग्र क्रियाऐं होने पर साधन में कहीं न कहीं, कुछ न कुछ दोष है।

संस्कारों तथा वासनाओं के क्षय के साथ ही साथं वृत्तियाँ भी निर्मलता को प्राप्त होती हैं अर्थात् शक्ति के स्पनदन के कारण क्रियाऐं ही शेष रह जाती हैं तथा विकारों के कारण आंदोलन होने पर अस्वाभाविक वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं तब क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट दोनों प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाता है। शक्ति अन्तर्मुखी यात्रा में आत्माभिमुख ऊपर चढ़ती है। प्रथम साधक को, उसका अहंकार शुद्ध कर, उसे उसकी अस्मिता वापिस लौटा देती है तथा स्वयं निर्मल शक्ति के रूप में उसके अभिमुख प्रकट हो जाती है। यही आत्मा से आत्मा को देखना कहा जाता। यही ईश्वर दर्शन अथवा आत्माराम होना है। किन्तु शक्ति पर आकर यात्रा समाप्त नहीं कर देती। वह अपनी गतिशीलता में, चित्त के साथ अपना तादात्म्य तोड़कर, चित्त को पूर्णतया निरूद्धावस्था में छोड़कर, जड़ चेतन की ग्रन्थि का भेदन करती हुई, आत्मा तत्व में विलीन हो जाती है। यही उसकी सर्वोत्तम क्रिया होती है जब वह स्वरूप-स्थिति अथवा कैवल्य में स्थित हो जाती है। यही योग भक्ति ज्ञान अथवा शक्तिपात् की साधना का चरम लक्ष्य है।

नाड़ी विज्ञान- मनुष्य असंख्य नाड़ियों का एक सघन बन है जिस प्रकार वन में बड़े छोटे वृक्ष होते हैं इसी प्रकार शरीर के अन्दर छोटी बड़ी अनेकों नाड़िया हैं, इनमें निम्नलिखित पंद्रह मुख्य हैं। सुषुम्ना, इडा, पिंगला, गांधारी, हस्तजिह्वा, पूषा, शूरा, यशस्विनी, कुहू, सरस्वती, वारूणी, अलम्बुशा, विश्वोदरी, शंखिनी तथा चित्रा।

गांधारी तथा हस्तजिह्वा बाम तथा दक्षिण नेत्र से पांव के अंगूठे तक, पूशा तथा यशस्विनी दोनों कानों में, शूरा नासिका में, कुहू मुख में, सरस्वती जिह्वा के अग्रभाग में इनमें से भी, योग की दुष्टि से सुषुम्ना, इडा तथा पिंगला मुख्य मानी जाती है। इड़ा को चन्द्र नाडी तक पिंगला को सूर्य नाड़ी कहा जाता है। सामान्यतया श्वास प्रश्वास का प्रवाह इड़ा तथा पिंगला के द्वारा ही होता है। यदि इड़ा तमोगुणी है

तो पिंगला रजोगुण प्रधान। क्योंकि चन्द्रकाल अर्थात् रात्रि में मनुष्य तमोगुण रूपी गहरी निद्रा का आनन्द लेता तथा दिन के समय रजोगुण से प्रभावित लोक व्यापार में संलग्न रहता है।

योग की दृष्टि से सुषुम्ना सब नाड़ी में सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यन्त सूक्ष्म है। यह इतनी सूक्ष्म है कि शल्य क्रिया से इसको शरीर में देख पाना असम्भव है किन्तु योग जन ध्यान की अवस्था में इसमें रमण कर, इस अन्तर का ज्ञान प्राप्त करते हैं यह नाड़ी मेरू के अन्दर स्थित है तथा गुदा के समीप से ही आरम्भ होकर सहस्त्रार तक चली गई है। गुदा के निकट स्थान से ही इड़ा तथा पिंगला भी आरम्भ होकर आज्ञाचक्र तक चली गई है। इस तरह यह तीनों नाड़िया या तो गुदा स्थान पर मिलती हैं, अथवा आज्ञाचक्र पर। गुदा स्थान पर इनका मिलन सामीप्य मात्र है किन्तु आज्ञा चक्र पर यह संयुक्त हो जाती हैं इसीलिए आज्ञाचक्र को त्रिवेणी की संज्ञा दी जाती है। जो लोग हठ योग का आश्रय लेकर कुण्डलिनी जाग्रति के लिए प्रयत्नशील होते हैं वह प्राणवायु को गुदा स्थान पर स्थिर कर के, मन्त्रशक्ति से, अथवा ध्यान मात्र से, प्राण वायु को धक्का लगाकर सुषुम्ना में प्रविष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। यदि वह इससे सफल हो जाते हैं तो इसी को कुण्डलिनी की जाग्रति कहा जाता है। तब उनका भी स्वयं सिद्ध साधन आरम्भ हो जाता हैं

सुषुम्ना के फिर तीन भाग हैं जो सुषुम्ना के अन्दर खोलों की तरह स्थित हैं। ऊपर का भाग जो वज्र के समान है वज्रा कहा जाता है। उसके मध्य में चित्रा है तथा चित्रा के अन्दर बिरजा है जिसे ब्रह्म नाड़ी भी कहा जाता है। वास्तव में सामान्य जन जब सुषुम्ना की बात करते हैं तो उनका आशय ब्रह्मनाड़ी से ही होता है। क्योंकि सुषुम्ना प्रवेश के जो लक्षण बताये जाते हैं। वह ब्रह्म में प्राणवायु अथवा कुण्डलिनी के प्रवेश करने पर ही प्रकट होते हैं।

सूत्रकार ने सूत्र 3-4 की व्याख्या में बहत्तर करोड़ एक नाड़ियों का वर्णन किया है। एक सुषुम्ना है तथा प्रधान नाड़िया हैं।

प्रत्येक प्रधान नारी से 72000 नाड़ियों की शाखाओं की तरह फूटना कहा गया है। मूलाधार आदि जितने चक्र हैं वह सभी नाड़ियों के गुच्छे हैं जहां से नाड़ियां फूटकर शरीर के विभिन्न अंगों में जाती हैं। इसीलिए जिस चक्र पर क्रियाशीलता प्रकट होती है उससे सम्बन्धित शरीर के अंगों में क्रिया की अनुभूति होती है।

देह त्याग करते समय जिसके प्राण सुषुम्ना मार्ग से होकर, सहस्रार से बाहर निकलते हैं उसका कपाल मरते समय अपने आप फट जाता है, तथा वह मोक्ष को प्राप्त होता है। जिसके प्राण अन्य नाड़ियों के माध्यम से निकलते हैं उसके लिए अभी आवागमन का चक्र शेष है।

षट्-चक्र विज्ञान- जिसको थोड़ी बहुत भी इस मार्ग में रूचि है वह यह तो जानता ही है कि सुषुम्ना में छः चक्र हैं, आधार चक्र (मूलाधार) स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा। सातवां चक्र सहस्रार है। इसलिए यहां षटचक्रों के बारे में विशेष जानकारी देने की आवश्यकता नहीं। समझने की बात यह है कि यह चक्र शरीर के नही, तथा न ही सुषुम्ना नाड़ी के हैं वरन् प्राण शक्ति के है। सुषुम्ना में जहां-जहां इन चक्रों का अनुभव होता है वहां वहां चक्र मान्य कर लिये गये हैं। साधारणतया यह चक्र कमलों की भांति, बिना खिले तथा अधोमुख होते है। संसारी जीवों में यह जगदाभिमुख होते हैं किन्तु योगियों को इनका अनुभव होता है।

वास्तव में सभी ग्रन्थियां चित्त में ही होती है क्योंकि सभी संस्कार चित्त में ही संचित होते हैं। शक्ति भी प्रसव क्रम में, अथवा प्रतिप्रसव क्रम में चित्त में ही यात्रा करती है। प्रसव क्रम में यह चक्र अधोमुख तथा प्रतिप्रसव क्रम में चित्त में ही यात्रा करती है। प्रसव क्रम में यह चक्र अधोमुख तथा प्रतिप्रसव क्रम में उर्ध्वमुख होते हैं। संसारी जीवों को यह अधोमुखता भी अनुभव नहीं होती क्योंकि उनका लक्ष्य ही जगदाभिमुखी होता है। वह अन्तर की स्थिति से

अनभिज्ञ बने रहते हैं। किन्तु योगियों का लक्ष्य अन्तर्मुख होने से चक्रों की ऊर्ध्वमुखता, शक्ति का सुषुम्ना में ऊपर चढ़ना तथा चक्रों पर घटित होने वाली क्रियाएं अनुभव में आती है।

अभी वर्णन किया गया है कि संस्कार चित्त में संचित होते हैं जिनके अनुसार घटित होने वाली क्रियाएं चक्रों पर अनुभव होती है। यदि ऐसे संस्कार है तो जो शक्ति के द्वारा उदार होने पर क्रियाशील हो जाते हैं, जो विशुद्ध चक्र से संबंधित हैं तो विशुद्ध चक्र की ही क्रियाएं होती है जैसे हंसना, चिल्लाना, गाना, हाथ पटकना इत्यादि। इसी प्रकार सभी क्रियाओं के प्रकट होने के अपने-अपने चक्र हैं। कई बार एक साथ कई प्रकार के संस्कार उदय हो उठते हैं तो एक से अधिक चक्र भी एक साथ ही क्रियाशील हो जाते है। यह सभी क्रियाएं चेतना का नहीं, वरन् प्रत्येक-चेतना की क्रिया का परिणाम होता है।

शक्ति जाग्रत होकर, मूलाधार से स्वाधिष्ठान अर्थात् अपने अधिष्ठान पर आ जाती है। किनतु इसका यह अर्थ भी नहीं कि मूलाधार पर क्रिया होती ही नहीं। क्रियाऐं तो सभी चक्रों पर अनुभव होती हैं किन्तु शक्ति का निवास स्वाधिष्ठान पर हो जाता है। फिर जैसे-जैसे शक्ति ऊपर चढ़ती जाती है उसका अधिष्ठान भी, स्थिति के अनुसार ऊपर उठता तथा सूक्ष्म होता जाता है।

जाग्रत शक्ति का अपना स्थान स्वाधिष्ठान है ऐसा कई लोगों का मानना है, किन्तु सूत्रकार ने इस ग्रन्थ में लिखा है, "उन्निद्रिता विशुद्धे तिष्ठति मुक्तिरूपा पराशक्ति," अर्थात् जागी हुई वह मुक्तिरूपा पराशक्ति विशुद्ध चक्र में विराजती है। यह विचार का विषय है कि जागकर शक्ति कहां ठहरती है। इस विषय में श्री गुरू महाराज से चर्चा हुई तो उन्होंने कहा.... कि जाग्रत होने के पश्चात् तो शक्ति एक दम स्वाधिष्ठान में चली जाती है कि जैसा कि इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है कि तीनों गुणों के शिथिल हो जाने पर उसका स्थान विशुद्ध चक्र हो जाता है। जाग्रत होने के पश्चात् तीनों गुण एक

दम शिथिल नहीं हो जाते। साधन से शनैः शनैः ही ऐसा हो पाता है।''

शक्ति जाग्रति के उपाय-

नारद भक्ति सूत्र में परम-प्रेम-रूपा भक्ति की प्राप्ति अर्थात् आह्लादिनी जाग्रत करने के कई उपाय दिये गये हैं, विषयों का त्याग तथा संग का त्याग, अखण्ड भजन, भगवद् गुण श्रवण तथा कीर्तन, आदि उपाय सुझाये गये हैं किन्तु मुख्यतः तो वह महापुरूषों की कृपा अथवा ईश्वर की लेश मात्र कृपा से जाग्रत होती है। इस प्रकार योग-दर्शन में भी कई उपाय कहने पर भी, ''वीत राग विषयं वा चित्तम्'' जिनका चित्त वीत-राग हो गया है, उनके चित्त का अवलम्बन लेने से, इस जाग्रति के उपाय को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। (1) सतत् समर्पण युक्त साधना (2) गुरू कृपा। यहाँ भी सूत्रकार ने पहले तो साधना का उल्लेख किया है ''योगाभ्यासात्तीव्र वैराग्याच्च'' अर्थात् योग के अभ्यास और तीव्र वैराग्य से जाग जाती है। ''ज्ञान भक्तिभ्यां वा'' अथवा ज्ञान तथा भक्ति से भी। ''प्राणायामाद्वा'' अथवा प्राणायाम करने से। किन्तु अन्त में आकर कह दिया है ''शक्तिपाता-द्विशेषेण''। शक्तिपात से विशेषता से जागती है। शक्तिपात् की विशेषता यही है कि वह गुरूकृपा से अनायास ही जाग जाती है।

साधना का मार्ग कष्ट-साध्य तथा लम्बा है। इसके लिए साधक को अत्यन्त धैर्यवान् होना आवश्यक है अन्यथा बीच में ही साधना छोड़ बैठने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जैसा कि उर्दू के एक शायर ने कहा है कि:-सुना है कि शहरे इश्क के गिर्द, मज़ारे हो गई हैं।। प्रेम नगर की यात्रा पर तो कई निकलते हैं, किन्तु प्रेमनगर पहुंचने से पहले ही उनकी कब्र बन जाती है। ऐसा साधना की निरन्तरता एवं धैर्य के अभाव में होता है। इसके विपरीत शक्तिपात् तत्काल फलदायी है। ऐसा कहा जाता है कि यदि साधना से जाग्रत हो भी जाए तो भी दीक्षा अवश्य लेनी चाहिए क्योंकि साधना से प्राप्त जाग्रत शक्ति नियंत्रित ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं। दीक्षा के द्वारा

उसका नियंत्रित करा लेना आवश्यक है, अन्यथा अनिष्ट की सम्भावना हो सकती है। शिव सूत्र में तो जाग्रति का केवल एक ही उपाय स्वीकार किया गया है– गुरूरूपायः। गुरू ही उसका उपाय है।

दीक्षा केवल शिष्य की इच्छा पर ही आधारित नहीं है। वह तो गुरूदेव से इसके लिए प्रार्थना ही कर सकता है। यह गुरूदेव के ही अधीन है। कि दीक्षा देना अथवा नहीं। यदि दीक्षा देना भी तो कब देना तथा कहां देना। दीक्षा, केवल शिष्यों की संख्या बढ़ाने के लिए नहीं दी जाती। अधिकारी देख कर ही दी जाती है। यदि गुरूदेव अभी शक्तिपात के योग्य नहीं समझें तो जो साधना, वह करे, तथा जितनी देर करने के लिए कहें, वैसा करना चाहिए। तभी गुरू की प्रसन्नता प्राप्त होती है। कहा भी है– तत्तु गुरूकृपयैव लभ्यते ।।4-8।। परन्तु यह शक्तिपात दीक्षा गुरू की कृपा से ही प्राप्त होती है। अतः यदि गुरू कुछ समय ठहरने के लिए कहें तो शिष्य को शीघ्र दीक्षा के लिए आग्रह नहीं करना चाहिए।

शक्ति जाग्रत हो अथवा सुषुप्त वह सदैव ही ज्ञानवती होती है, अन्तर केवल इतना है कि प्रसुप्त शक्ति का ज्ञान बर्हिमुख होता है। उस समय भी चित्त के बहिर्मुख संकल्पों, विचारों, वासनाओं एवं भावों की साक्षी ही नहीं, शक्तिदात्री भी होती है किन्तु प्रसुप्त अवस्था में वह संस्कारों को वासना का रूप ग्रहण करने से नहीं रोकती जिससे, प्रसुप्त शक्ति की क्रियाएं कर्म का रूप ग्रहण कर जाती है। किन्तु जाग्रति के पश्चात् उसका ज्ञान, अन्तर्मुखता प्रकट हो जाता है। तब शक्ति ज्ञानवती होने के कारण, क्रियावती भी हो जाती है। भाव

यह है कि उसे चित्त में जन्म-जन्मान्तर के छुपे, अंकित संस्कारों का पूर्णरूपेण ज्ञान होता है। किस संस्कार को, कब कितनी तथा कैसी क्रिया की आवश्यकता है, इससे वह पूरी तरह अवगत होती है। उसकी क्रियाशीलता इस रूप में प्रकट होती है कि वह संस्कारों को वासना का रूप ग्रहण करने से पूर्व ही, मन की इच्छा से स्वतंत्र, क्रिया में परिणित कर देती है। इससे जहां एक़ ओर संस्कार क्षीण हो जाता है, वहीं दूसरी उस क्रिया का ऩया संस्कार संचय नहीं होता। ततः क्रियावती च भवति ज्ञानवतवात् ।।4-9।। शक्तिपात से शक्ति क्रियावती भी हो जाती है, शक्ति के ज्ञानवती होने के कारण।

क्रिया-विवरण-

शक्ति का जागना तथा क्रियाशील होना, दो भिन्न बातें है। यह आवश्यक नहीं कि जाग्रत हो जाने के पश्चात्, शक्ति क्रियाशीऌ भी हो ही जाए। जब तक शक्ति क्रियाशील नहीं हो तब तक साधन का स्वतः सिद्ध आरम्भ भी नहीं होता है।

सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर का विकास संस्कारों तथा वासनाओं के अनुसार ही होता है। उन्हीं के अनुसार मानसिक संकल्प उठते, एवं तदनुसार ही कर्म होते हैं। शक्ति जाग्रत होने पर तदनुसार ही क्रियाऐं घटित होती है तथा चित्त स्थिति का निर्माण होता है। सबकी अपनी-अपनी, संस्कारानुसार चित्त स्थिति का निर्माण होता है। सबकी अपनी-अपनी, संस्कारानुसार चित्त स्थिति होने के कारण, सब साधकों की क्रियाएं तथा उन क्रियाओं के क्रम में भी अन्तर होता है। क्योंकि संस्कारों का क्रम भी सबका पृथक पृथक होता है, सबके चित्त में तीनों गुणों, सत, रज, तम की स्थिति एक दूसरे से भिन्न होती है जिस क्रियाओं की तीव्रता में भी न्यूनाधिकता होती है। जितनी तमोगुण की अधिकता होती है, क्रियाओं में जड़ता भी उतनी ही अधिक होती है। जितना रजोगुण अधिक होता है उतनी ही क्रियाओं में उग्रता अधिक होती है। जितनी सत्वगुण अधिक होता है, उतनी ही

क्रियाएं भी अधिक सौम्य होती हैं। इस प्रकार इस भेद के कारण क्रियाएं भी बहुविध हो जाती है।

कायिक-वाचिक-मानसिक क्रियाएं – भौतिक शरीर के आधार पर घटित होने वाली क्रियाएं कायिक कही जाती है जैसे उछलना, कूदना, नाचना, कांपना, कूदना, फुदकना, शरीर का हल्का या भारी हो जाना, लोट-पोट होना, पसीना आना, ठण्डक या गर्मी लगना इत्यादि। वाणी की क्रियाएं वाचिक कही जाती हैं जैसे हंसना, रोना, गाना, पक्षियों की बोलियां बोलना, उच्च ध्वनि करना इत्यादि। मानसिक क्रियाओं में विचारों का आना, क्रोध, लोभ, काम अथवा ईर्ष्या द्वेष का उदय होना, भावों का उदय होना इत्यादि। जिस प्रकार के संस्कार संचित होते हैं, तथा उनमें से जो शक्ति के द्वारा उदय होते हैं वैसी क्रियाएं होती है।

चाहे शिष्य कोई इच्छा करे अथवा गुरू करे, क्रियाएं किसी की भी इच्छा के अधीन नहीं है। यदि किसी क्रिया की बार बार भावना की जाती है तो प्रथम उसका संस्कार संचय होता है तथा तत्पश्चात् वह क्रिया घटित हो सकती है क्योंकि क्रियाओं का आधार मानसिक संकल्प है ही नहीं। वह मानसिक संकल्प से पूर्णतः स्वतंत्र है। यदि संकल्प के अधीन कोई क्रिया घटित होती भी है तो क्रिया नहीं रहती। तब वह मानसिक संकल्प के अधीन कोई कर्म हो जाता है। "ता नेच्छातन्त्राः संस्कारतंत्रत्वात् ।।4-12।। क्रियाएं इच्छा की नहीं, संस्कारों की तंत्र होने के कारण। यह क्रियाएं तभी घटित होती हैं जब शक्ति का वेग होता है। इसीलिए कहा गया है कि साधक साधन करना ही नहीं, शक्ति करती है। वहीं संस्कारों को उभारती है, वह उन्हें क्रिया में परिणित करती हैं। साधक तो बस, द्रष्टा बना देखता रहता है, वास्तव में साधन होता ही वही है जो करना न पड़े। अपने आप घटित हो। साधक बस उसके प्रति समर्पण कर दे। जो करना पड़े वह अभ्यास है। इसलिए भी इसे मानसिक संकल्प से

स्वतंत्र कहा गया है क्योंकि शक्ति ज्ञानवती है। मन को क्या पता कि क्या संस्कार संचित है, उसे तो बस जगत का ही पता है, वह भी अत्यन्त सीमित। किन्तु शक्ति सब जानती है। साधन का आधार संस्काराशय ही है। "शक्ति तन्त्रत्वाद्वा" अर्थात् चाहे क्रियाओं को शक्ति के तंत्र मानो ।।4-13।।

क्रियाएं मन से स्वतंत्र हैं किन्तु क्रियाओं का वेग स्वतंत्र नहीं है, उस मन से रोका जा सकता है। एक बार महाराज श्री से पूछा गया कि यदि वेग अत्यन्त तीव्र हो जाए तो उसको कैसे रोका जा सकता है? उत्तर मिला कि मानसिक संकल्प से। जब क्रिया के वेग को रोकने की आवश्यकता आन पड़ती है तो साधक केवल संकल्प से ही उसको रोक देता है। फिर पूछा गया कि यदि कोई साधक मन के संकल्प से क्रिया को रोक पाने में असमर्थ हो, वेग इतना अधिक तीव्र हो कि संभले तो कहा कि इसके लिए गुरू निग्रह करने में सक्षम होना चाहिए।

एक बार महाराज श्री ने, आत्म-नियंत्रण बढ़ाने का एक उपाय बतलाते हुए ऐसे कहा कि साधक को, साधन समय, अपना आसन नहीं छोड़ना चाहिए। जब क्रिया के वेग में वह आसन से दूर हट जाये तो इस बात का ध्यान आते ही वापस आसन पर लौट जाना चाहिए। इस प्रकार आसन पर बने रहने के प्रयास में उसके मानसिक-नियंत्रण का विकास होता जाएगा। फिर जब वह चाहेगा क्रिया के वेग को रोक सकेगा। किसी साधक के अधिक वेगवान् हो जाने पर, कोई दूसरा साधक उसके सिर पर, उच्च स्वर से ऊँ ध्वनि करता हुआ, धप् धप् करता हुआ, हाथ से चोट करे तो भी क्रिया का वेग कम हो जाता है।

स्वतः सिद्ध प्राणायाम्- चेतन-प्राण देह में घटित, संस्कारों के आधार पर, प्रत्येक क्रिया का मुख्य कारण है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया उसी के अधीन है। प्राण का निरोध हो जाने से, शरीर के सभी

व्यापार का निरोध हो जाता है। इसलिए योगाभ्यासियों का प्राणायाम् मुख्य साधन है। जिसके लिए योग शास्त्रों में कई प्रकार के प्राणायामों का विधान किया गया है, जिसका मुख्य उद्देश्य प्राण पर नियमन प्राप्त करना है। इनमें से चार प्राणायाम मुख्य हैं।

1. आन्तर्कुम्भक: - श्वास को अन्दर की ओर खींच कर, शरीर के अन्दर प्राण को धारण करना।
2. बाह्य कुम्भक:- श्वास को शरीर से बाहर निकाल कर, बाहर ही स्थिर करना।
3. स्तम्भ वृत्ति:- प्राण को जहां का तहां स्थिर कर देना।
4. केवल कुम्भक:- प्राण का अपने आप स्थिर हो जाना।

अभ्यास-मार्ग में इन प्राणायामों के लिए साधक को बार-बार प्रयत्न करना होता है। कभी कोई विशेष प्रकार का प्राणायाम प्रकृति, स्वभाव या शारीरिक अवस्था के अनुकूल नहीं होने से किसी अनिष्ट की सम्भावना भी हो सकती है परन्तु शक्ति की जाग्रति के पश्चात् शक्ति ज्ञानवती होने से सभी क्रियाएं स्वाभावानुकूल ही घटित होती है। जो क्रिया जब तक जितनी अनुकूल होगी, वैसी ही क्रिया होगी। प्राणायाम में भी यही स्थिति है। साधकों को प्राणायाम की विभिन्न क्रियाएं भी, अन्य क्रियाओं की भांति ही, अनायास ही होते, देखी जाती है। यह सभी, पूर्व जन्मों के, प्राणायाम के किये गये अभ्यास के संचित संस्कारों के, शक्ति द्वारा उभरने पर होता है। शक्ति जाग्रत होन पर चूंकि किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं होता इसलिए यह मान लेने पर आपत्ति नहीं कि चाहे आन्तर्कुम्भक हो अथवा बाह्य, या फिर स्तम्भ वृत्ति, सभी प्राणायाम केवल कुम्भक की श्रेणी में ही आते हैं।

शक्ति-जाग्रति से तो प्राण का उत्थान होता ही है, क्रियाओं से उत्थान को और अधिक गतिशीलता प्राप्त होती है। जितना साधन अधिक किया जाएगा तथा जितनी क्रियाएं अधिक होंगी उतना ही प्राण का उत्थान भी अधिक होगा। जितना प्राण का उत्थान अधिक

होगा उतना ही चित्त निर्मल होकर, माया का आवरण क्षीण होगा। वैसे तो पांचों प्राण ही महत्वपूर्ण है किनतु प्राण तथा अपान दो मुख्य है। आन्तर्कुम्भक, अपान में प्राण की आहुति है तो वाहय कुम्भक प्राण में अपान की। अभ्यास में साधक अपनी रूचि के अनुसार प्राणायाम करता है। किन्तु स्वतः सिद्ध साधन में कभी प्राण में अपान की आहुति पड़ती है तो कभी अपान में प्राण की। इस प्रकार, प्राणायाम की विभिन्न क्रियाएं घटित होती रहती हैं जिससे प्राण हल्का होकर, उत्थान होता रहता है।

अन्य क्रियाओं की भांति ही, प्राणायाम की क्रियाओं से भी, चक्रों का भेदन होता है चक्रों के अधोगति चक्र पहले ऊर्ध्वमुख होते है तथा फिर शक्ति उनका वेध कर आगे बढ़ जाती है। इसमें अन्तर केवल एक बात का है, कि अभ्यास के मार्ग में, यह भेदन, क्रमिक होता है किन्तु जाग्रति के पश्चात्, किसी चक्र का, कभी भी भेदन हो सकता है क्योंकि इसमें सभी चक्र, एक साथ ही क्रियाशील हो जाते है। यह चक्र नाड़ियों के गुच्छे हैं जहां से नाड़ियां शरीर के बाकी अंगों तक फैलती चली गयी हैं। इसलिए प्राणायाम के साथ-साथ अन्य क्रियाएं भी, अंग-प्रत्यंग में, क्रियाएं अनुभव कराती है। यूं तो प्राण के उत्थान का प्रभाव सभी कोषों पर पड़ता है पर विशेषकर, प्राणमय कोष सर्वाधिक एवं प्रत्यक्ष प्रभावित होता है। प्रत्येक नस नाड़ी एवं रोम-रोम में प्राण का संचार कर देता है। तब साधक को ऐसा अनुभव होता है कि सारे शरीर के अंग-अंग में शक्ति भरी हुई है। इसी को घटावस्था कहते हैं। किन्तु प्रायः साधक, प्रारम्भावस्था में ही रह जाते हैं। क्योंकि वह आगे से, संस्कारों के संचय को रोक पाने में असमर्थ रह जाते हैं। जब घटावस्था प्राप्त हो जाए तो साधक को समझना चाहिए प्राणायाम सिद्धि हो गई है। अब चेतन प्राण ऊपर की यात्रा करने के लिए तैयार हो गया है।

नौ प्रकार के भावों का उदय–

किसी भाव को चित्त में धारण करने का प्रयत्न भावना कहलाती है, जबकि भाव, आन्तरिक संचित संस्कारों से उदय होकर, हृदय में स्वयमेव प्रकट होता है। भावना यदि साधना है तो भाव साधन। शक्ति जाग्रत होकर, चित्तस्थ संचित संस्कारों में खलबली मचा देती है। वैसे तो भाव सभी मनुष्यों में उदय होते हैं कि वे इन भावों के आवेश में बह जाते हैं जबकि साधक, इन भावों के उदय को भी, अन्य क्रियाओ की तरह ही अपने से पृथक, द्रष्टा बनकर देखता है। भाव उदय होने के लिए, बाह्य जगत में किसी अनुकूलता की आवश्यकता नहीं है। यह कह सकते हैं कि भावों के लिए, कोई कारण नहीं होता किन्तु कोई बाह्य कारण नहीं होता। आन्तरिक संस्कार ही उसका कारण होते हैं।

रौद्रादि भावैरपि सम्पन्नो भवति ।। 4–31।। अर्थात् साधक दिव्य भावों में मस्त हो जाता है तथा रौद्रापि भावों से भी युक्त होता है। रौद्रादि नौ भाव इस प्रकार है।– रौद्र, अद्भुत, श्रृंगार, हास्य, वीर, करूणा, भय, घृणा तथा शान्त। यह भाव उदय होकर, तत्संबंधी विभिन्न क्रियाएं प्रकट करते हैं। साधक की वैसी ही मुद्रा भी बन जाती है। इसके अतिरिक्त दिव्य भाव भी प्रकट होता है जो संस्कारों के क्षीण हो जाने पर, चित्त की निर्मलता का द्योतक है।

मातृका शक्ति – शक्ति जागृति में जब मातृका शक्ति कार्यशील हो जाती है। तो विभिन्न देवी–देवताओं के मंत्र अनायास ही प्रस्फुटित होने लगते हैं। तथा काव्य रचना झरने की भांति अन्दर से प्रवाहित होने लगती है। कई ऐसे भी लोग देखने में आए हैं, जिन्होंने किसी भाषा विशेष का शिक्षण ग्रहण नहीं किया, तथा जीवन में कभी काव्य रचना का प्रयास भी नहीं किया, किन्तु सहसा ही न जाने कैसे, अन्दर से ही काव्य धारा फूट निकलती है। कबीर इसका ज्वलंत उदाहरण है। वह तो अनपढ़, अंगूठा छाप थे किन्तु फिर भी कितनी ही रचनाएं कर डालीं।

मंत्रों का उदय तथा काव्य रचना पूर्वकृत कर्मों के संचित कर्मों के कारण उदय होता है। कहने को तो इसे ईश्वरीय देन कहा जाता है। ठीक भी है जिस बात की समझ न आए, उसे ईश्वरीय देन ही स्वीकार कर लेना पड़ता है। अन्यथा या तो इस जीवन में पाण्डित्य प्राप्त किया जाए, अथवा पूर्व जन्मों के संस्कार इसका कारण हो सकते है। यही बात शास्त्र ज्ञान की भी है तथा संगीत की भी कई लोग परिश्रम कर-कर के थक जाते हैं किनतु कुछ पल्ले नहीं पड़ता। इसके विपरीत कुछ दूसरे लोग बिना विशेष अभ्यास किये ही बहुत कुछ कर जाते हैं। इसीलिए जाग्रत शक्ति को सरस्वती कहा जाता है।

अष्टांग योग सिद्धि- अष्टांग योग की सिद्धि के लिए प्रायः अभ्यास का मार्ग अपनाया जाता है किन्तु अभ्यास कितना भी किया जाए, जब तक वासना तथा संस्कार क्षय नहीं होते, तब तक यह सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है? दूसरे, इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने अर्थात् प्रत्याहार को भी क्यों कर सिद्ध किया जा सकता है जबकि इन्द्रियों के आधार पर शक्ति बर्हिमुखी प्रवाहित है। अभ्यास से संयम की स्थिति तो आ सकती है, स्वाभाविकता की नहीं, जबकि संयम की स्थिति में, पतित होने का संकट, सदैव ही बना रहता है। किन्तु, जब जाग्रत शक्ति की क्रियाशीलता से वासना एवं संस्कार क्षीण हो जाते हैं तो स्वयमेव ही यम-नियम आदि अष्टांग योग के आठों अंग सिद्ध हो जाते है क्योंकि तब चित्त अपने आप ही चंचलता का त्याग कर, स्थिरता धारण कर लेता है। इसीलिए यहां सूत्रकार ने कहा कि 'अष्टांगयोग सिद्धिश्च।। और अष्टांग योग की सिद्धि होती है ।।4-26।।

इसके लिए साधन की निरन्तरता तथा श्रद्धा का बने रहना आवश्यक है। तब धीरे धीरे योग के आठों अंग पुष्ट होते जाते हैं। क्रियाओं में स्वयंमेव ही ध्येय प्रकट होकर पहले उस पर धारणा होती है। स्वभावतः ही एकाग्रता होने पर ध्यान की अवस्था आ जाती है।

तथा स्वयंमेव ही उस ध्येय विषय पर समाधि की अवस्था उदय हो जाती है। किन्तु अधिकांश साधक समर्पण, धैर्य, श्रद्धा, विश्वास तथा निरन्तरता के अभाव में प्रारम्भिक अवस्था में पड़े रह जाते हैं।

महायोग– महायोग भी अपने आप ही उदय हो जाता है। सामान्यतः महायोग में मंत्र, हठ, लय तथा राजयोग का समावेश किया जाता है किन्तु भक्ति, ज्ञान तथा कर्म को भी महायोग में सम्मिलित किया जा सकता है। प्रेम तथा समर्पण भक्ति के आवश्यक अंग है। अन्तर से ही ज्ञान उदय होने लगता है तथा कर्म में भी कुशलता (अनासक्ति) प्रकाशित होने लगती है। शक्ति की क्रियाओं से मंत्रों का अजपा–जप, आसन मुद्राएं तथा प्राणायाम रूपी हठ योग, चित्त की लय अवस्था तथा राजयोग स्वाभाविक अवस्था का अनुभव भी होता है। जब अभ्यास किया जाता है तो किसी साधना विशेष का ही अभ्यास होता है किन्तु जब अभ्यास का स्थान समर्पण ले लेता है तथा शक्ति की स्वाभाविक क्रियाएं अन्तर से ही प्रकट होती हैं तो जैसे जैसे संस्कार उभरते जाते हैं, वैसी क्रियाएं भी स्वभावता प्रकट होती है। महायोगोदया वा ।।4–27।।

किन्तु यह आवश्यक नहीं है सभी साधको को सभी प्रकार की क्रिया घटित होना अनिवार्य है। ऐसा कोई नियम नहीं है। ऐसी कोई क्रिया नहीं है जो कि प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक हो। यह बात तो अपनी चित्त भूमिका तथा संस्कारों पर ही आधारित है कि साधक को किस क्रिया का कब अनुभव हो।

यह क्रियाएं आत्मा में नहीं होती। आत्म स्थिति की अवस्था में तो सभी क्रियाएं विलीन हो जाती हैं। क्रियाऐं चित्त में होती है क्योंकि यह चित्त का ही धर्म है। शक्ति चित्त के साथ युक्त होकर ही क्रियाशील होती है। चित्त के साथ तादात्म्य टूट जाने पर क्रिया लुप्त हो जाती है। आत्मा सदैव ही एकरस है इसलिए उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता।

जैसे-जैसे क्रियाओं में उच्च से उच्चतर भूमिकाएं प्राप्त होती हैं, आत्म ज्ञान भी अधिक से अधिक आलोकित होता जाता है। संस्कारों की मलीनता ही चित्त भूमिका को पतनोन्मुख करती है तथा निर्मलता आत्म-ज्ञान को प्रकाशित करती है।

सारांश

1. आत्मा चेतन तथा चित्त जड़ होने से दोनों का संयोग या तादात्म्य असम्भव है, फिर भी यह संयोग भासित होता है। यही अविद्या, भ्रान्ति अथवा जड़ चित्त की मिथ्या ग्रन्थि है जो सभी दुखों, क्लेशों, संस्कारों, वासनाओं एवं अहम् की जड़ है।
2. यह भ्रान्ति आत्मिक शक्ति के जगदाभिमुख प्रसव क्रम में प्रवाहित होना, आरम्भ होने पर चित्त में उदय हो उठती है तथा प्रथम अस्मिता के रूप में विकास पाती है। शक्ति के प्रसवक्रम में नीचे उतरने के साथ अस्मिता पहले अहंकार एवं तत्पश्चात् अभिमान का रूप ग्रहण करती है। अभिमान युक्त जीव पूरी तरह जगदाभिमुखी तथा लिप्त हो जाता है।
3. अभिमान, अहम् के साथ-साथ कर्तृव्य को भी जन्म दे देता है जिससे कर्ता का मिथ्या भाव भी जीव के चित्त में स्थान बना लेता है। ऐसा जीव पूरी तरह इस बात को विस्मृत कर देता है कि यह शक्ति उसकी इन्द्रियों की नहीं, वरन् आत्मा की है। वह शक्ति का इन्द्रियों तथा मन से भिन्नत्व अनुभव ही नहीं करता। इसी को शक्ति की प्रसुप्तावस्था कहा जाता है। जाग्रत तथा प्रसुप्त भी मात्र औपचारिक प्रयोग ही हैं अन्यथा शक्ति कभी प्रसुप्त होती ही नहीं। हाँ आत्मा की ओर लक्ष्य उदासीन हो जाना तथा जगत की ओर जाना ही प्रसुप्तावस्था है। जाग्रतावस्था में शक्ति अन्तर की ओर घूम या मुड़ जाती है। अर्थात् शक्ति का आत्माभिमुख होना ही उसकी जाग्रतावस्था है।

4. प्रसुप्तावस्था में, शक्ति की इन्द्रियों से अभिन्नता की प्रतीति, शक्ति द्वारा घटित होने वाली क्रियाओं में, कर्तृत्वाभिमान होने से, कर्म करने के मिथ्या अभिमान को उदय करती है। कर्म अर्थात् इस मिथ्या अभिमान की स्मृति का, चित्त पर अंकित हो जाना ही संस्कार संचय कहा जाता है। यह संचय चित्त को मलीन, अविद्या को प्रगट, तथा प्रारब्ध का निर्माण करने वाला होता है। प्रत्येक कर्म के साथ, जीव सुख-दुख भोगता, संस्कार संचय करता, तथा प्रारब्ध निर्माण करता है।

5. जड़-चेतन की यह ग्रनिथ इतनी दृढ़ हो चुकी है कि केवल पठन-पाठन, सत्संग श्रवण या कर्तृव्याभिमानयुक्त साधना, उपासना से ही निवृत्त नहीं हो सकती, जब तक शक्ति का प्रवाह अन्तर्मुख नहीं होगा, तब तक न तो क्रिया उसकी क्रिया की अनुभूति ही होगी न अशुद्ध चित्त शुद्ध हो पाएगा, तथा नही चित्त की भ्रान्ति निवृत्त होगी।

6. अभिमान में कर्ताभाव निवृत्त करना, आध्यात्मिक साधना के लिए सर्वप्रथम अनिवार्यता है जो कि शक्ति की जाग्रति होने के पश्चात् उसकी इन्द्रियों से भिन्न अनुभूति होने पर ही सम्भव है। यह कार्य केवल भावनात्मक अथवा विचारात्मक स्तर पर ही सम्भव नहीं। इसके लिए क्रिया का प्रत्यक्ष अनुभव आवश्यक है, जो शक्ति के प्रतिप्रसव क्रम में जाग्रति पर ही होता है।

7. शक्ति की जाग्रति के पश्चात् शक्ति इन्द्रियों के आधार पर प्रवाहित, किन्तु इन्द्रियों से भिन्न अनुभव होने लगती, जिससे कर्तापन का मिथ्या भाव गलित होना आरम्भ हो जाता है। साधक को यह प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाती है कि वह अब तक मिथ्या कर्ताभाव का अभिमान पाले हुए था।

8. आरम्भ में शक्ति की इन्द्रियों से भिन्नता की अनुभूति केवल

साधन–समय ही होती है। व्यवहार काल में कर्ताभाव पुनः उठ खड़ा होता है। अर्थात् जगत में, तथा शरीर के द्वारा कर्म करते समय भी, शक्ति की जाग्रत तथा शरीर से भिन्नता की अनुभूति नहीं होती। अतः साधन–समय क्रियावलोकन, तथा व्यवहार समय भावनात्क समर्पणयुक्त कर्म, सेवक का कर्तव्य है ताकि उसका आगे से संस्कार संचय रूक जाये।

9. शक्ति जाग्रति की क्रियाएं मानसिक संकल्प–विकल्प से पूर्णतया स्वतंत्र हैं तथा संचित संस्कारों पर आधारित है। जैसे तथा जितने संस्कार होते है, वैसी तथा उतनी ही क्रिया होती है। क्रियाओं का वेग, चित्त में प्रभावी गुणों के आधार पर निश्चित होता है। तमोगुण प्रधान होने पर जड़ता, रजोगुण की प्रधानता पर अग्रता, तथा सत्वगुण के प्रधान होने पर क्रियाओं में सौम्यता आती है। जिस अनुपात में कोई गुण विशेष प्रभावशील होता है। उसी अनुपात में क्रिया पर प्रभाव पड़ता है।

10. आत्मा पर पांच खोल चढ़े हुए हैं जिन्हें पंच कोष कहा जाता है। अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमयकोष, विज्ञानमय कोष तथा आनन्दमय कोष। जिस कोष के संस्कार जितने अधिक दृढ़ होते हैं उतना ही वह कोष घनीभूत होता है। क्रियाएं कोषों के आधार पर, कार्य करते हुए, कोषों को शिथिल करती हैं। शक्ति जाग्रत होकर संस्कारों को संस्काराशय से चित्त में लाकर, उसे क्रिया रूप प्रदान कर, क्षीण कर देती है, जिससे तत्संबंधी कोष शिथिल हो जाता है।

11. इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों में श्वास–प्रश्वास गतिशील रहता है। सुषुम्ना नाड़ी का मुंह बन्द है यह तीनों नाड़िया या तो मूलाधार पर मिलती हैं, या आज्ञा चक्र में जब प्राण वायु सुषुम्ना में प्रवेश पाती है जो शक्ति की जाग्रति होती है।

12. सुषुम्ना में मूलाधारादि छः चक्र हैं जिनका जाग्रत–शक्ति वेध करती हुई ऊपर की ओर चढ़ती है। इसी शक्तिपात दीक्षा को वेधमयी दीक्षा भी कहा जाता है।
13. जाग्रति के पश्चात् साधन का सारा उत्तरदायित्व शक्ति संभाल लेती हैं। साधक को उसे समर्पण करना होता है अर्थात् जाग्रति के पश्चात्, समर्पण ही साधन है। इसे योग दर्शन में ईश्वर प्रणिधान कहा गया है अर्थात् अन्तर मे प्रत्यक्ष जाग्रत ईश्वर के प्रति समर्पण।
14. शक्ति संस्कारों को क्षीण कर, मानों वृत्ति निरोध का मार्ग ही प्रशस्त करती है। क्योंकि संस्कार ही, वासना के माध्यम से वृत्ति का कारण है।
15. वृत्ति निरोध हो जाने पर स्वतः ही मनोनिरोध हो जाता है क्योंकि संकल्प विकल्पात्मक मन, वृत्ति के ही अधीन हैं
16. वृत्ति निरोध कर, स्वरूप स्थिति प्रदान करना ही शक्तिपात का लक्ष्य है।
17. शारीरिक, मानसिक तथा वाणी की क्रियाएं तो होती ही है, प्राणायाम भी स्वयमेव होता हो, तो आन्तर्कुम्भक तो कभी वाह्य, कभी स्तम्भवृति जिस सूक्ष्म इन्द्रियां मन में, मन बुद्धि में, बुद्धि अहम् में, तो अहम् शक्ति को लेकर, आत्मा में विलीन हो जाता है। तब आत्मा तथा चित्त का तथाकथित मिथ्या तादाम्य टूट जाता है, चित्त निरूद्ध हो जाता है। यही प्रतिप्रसव क्रम है।
18. किन्तु यह सभी कुछ होता शक्ति की जाग्रति से ही है। जाग्रति चाहे साधना से प्राप्त हो। चाहे शक्तिपात् की दीक्षा से।
19. इसके लिए शक्ति जाग्रति के पश्चात् भी साधक को सावधान रहने की आवश्यकता है, वरन् कुछ अधिक ही सावधानी अपेक्षित हैं क्योंकि शक्ति जब संस्कारों को

क्रियाओं में परिणित करती है तो अशुभ संस्कार भी क्रिया में प्रकट होते हैं जिससे कई बार चित्त में विकार बड़े वेग से तरंगित हो उठते हैं। कभी कभी उनका सम्भाल पाना कठिन हो जाता है, जिससे साधक उन विकारों के प्रति समर्पित हो जाता है।

20. साधक को अपने साधन की निरंतरता बनाए रखने के लिए सजग बना रहना चाहिए। अच्छा तो यही है कि साधन का समय तथा स्थान निश्चित हो।

गुरू दीक्षा

गुरू दीक्षा के लिए साधक को ही गुरू के समक्ष प्रार्थना करना होती है। गुरू-शिष्य का संबंध पिता-पुत्रवत् होता है जिसमें शिष्य में श्रद्धा का भाव तथा गुरू में कृपा का भाव प्रधान है। यदि गुरू प्रसन्न होकर दीक्षा देने की स्वीकृति प्रदान कर दें, तो शिष्य को जहां कहें, तथा जब कहें, शिष्य को सौ काम छोड़कर भी, पहुँच जाना चाहिए। ध्यान रहे कि गुरूदीक्षा जीवन में केवल एक ही बार होती है। यद्यपि कुछ लोगों के बार-बार दीक्षा लेने का स्वभाव होता है किन्तु यह कोई अच्छी बात नहीं है। जब तक विशेष कारण न हो, एक ही दीक्षा से संतोष करना चाहिए।

दीक्षा के लिए गुरूगृह में तीन रात्रि (कम से कम) ठहरने का विधान है। गुरू अपने मुख से किसी के सामने अपनी आवश्यकताओं का रोना नहीं रोते, किन्तु शिष्य का यथा शक्ति उनकी पूर्ति का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

गुरूदीक्षा दृष्टि, मन्त्र अथवा स्पर्श से किसी भी प्रकार हो सकती है। इनके साथ गुरू का संकल्प तो रहता ही है। केवल संकल्प से भी दीक्षा सम्भव है अधिकारी भेद से दीक्षा तीन प्रकार की है। सर्वोत्तम अधिकारी को तत्काल फल प्राप्ति होती है। मध्यम अधिकारी को थोड़ी देर लगती है तथा मन्द अधिकारी को उससे भी अधिक समय लगता है।

फिर आणवी, शक्ति तथा शाम्भवी तीन प्रकार की दीक्षा होती है। जिसमें प्रयत्नपूर्वक किसी साधन पद्धति के अभ्यास करने के लिए कहा जाए वह आणवी दीक्षा है। जिसमें शक्ति की अपने से भिन्न प्रतीति हो, तथा शक्ति की क्रियाशीलता अनुभव हो वह शक्ति दीक्षा है। जिसमें शक्ति की जाग्रति के पश्चात् शक्ति की अपने से अभिन्नता अनुभव हो, वह शाम्भवी है। यह दीक्षा समर्थ गुरू तथा परम अधिकारी शिष्य के मिलन से सम्भव होती है। यहां केवल शक्तिपात दीक्षा की बात कही गई है।

महाराज श्री अपने द्वारा रचित इन शक्तिपात् सूत्रों की व्याख्या कहीं विस्तार से लिखी है तो कहीं संकेत मात्र दे दिया है। जहां उन्होंने विस्तार से लिख दिया है, उन सूत्रों पर यहाँ प्रकाश नहीं डाला गया। न ही सभी सूत्र यहाँ सम्मिलित किये गये हैं क्योंकि यह भूमिका मात्र है, कोई सूत्रों की टीका नहीं। यहाँ महाराज श्री के विचारों का पूरा ध्यान रखा गया है। फिर भी यदि कहीं कुछ अन्यथा लिखा गया हो तो महाराज श्री अज्ञ बालक समझ कर क्षमा करें तथा पाठकों से भी आग्रह है कि वे महाराज श्री के विचार को ही ग्रहण करें।

इस पुस्तक की कई आवृत्तियां हो चुकी है किन्तु भूमिका लिखने का विचार अभी आया है, या ऐसा समझे कि योग ही अभी या।

आशा है कि यह शक्तिपात् सूत्र पूर्ववत् शक्तिपात् साधकों के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करते रहेंगे। गुरू महाराज सबका कल्याण करें।

–शिवोम्तीर्थ

दो शब्द

आजकल प्राय: यह धारणा हो गयी है कि योग का साधन केवल उग्र तपस्यायुक्त गृहत्यागी ही कर सकते हैं। परन्तु कोई भी भारतीय इस बात से अनभिज्ञ-नहीं है कि हमारे पूर्वजों ने किस प्रकार, गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए भी योग की सर्वोच्च भूमिकाओं को प्राप्त किया था। योगीराज भगवान् कृष्ण का आदर्श जीवन इस बात का प्रमाण है। गृहस्थ आश्रम में रहकर भी उनके दिव्य और अलौकिक गुण तथा कर्मों के कारण हम उन्हें साक्षात् ब्रह्म स्वीकार कर चुके हैं। गृहस्थ आश्रम में किया हुआ साधन तो दोनों लोकों में कल्याणकारी होता है।

यद्यपि यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि योग-साधन के लिए दृढ़ और सतत् अभ्यास की आवश्यकता है। पूर्व-पथ-प्रदर्शक भगवान् पतंजलि, वशिष्ठ, वेदव्यास आदि के ग्रन्थों को पढ़कर ही उस साधन को प्राप्त कर लेना कठिन ही नहीं, असम्भव सा भी है, क्योंकि इस मार्ग में अनेक विघ्न-बाधाएँ, जीव के ब्रह्म तक पहुँचने में बाधक होकर, साधक को पथ-भ्रष्ट कर प्रलोभनों में फँसा देती हैं और वह अपने अन्तिम ध्येय-मोक्ष से वंचित रह जाता है।

इसका मात्र सरल और सहज उपाय सद्‌गुरूओं की कृपा ही है। ऐसे सद्‌गुरू, लोकोपकार की दृष्टि से, सहज ही में सिद्धि देने वाले 'सिद्ध-महायोग' का लाभ अपने 'शक्तिपात' द्वारा जिज्ञासुओं को अनायास ही करा देते हैं।

स्मरण रहे कि 'शक्तिपात' और 'मैस्मेरिज्म' में आकाश-पाताल का भेद है, मैसमेरिज्म में कर्ता (हिप्नाटिस्ट या मैस्मेराइजर) मीडियम या सबजैक्ट (जिसके ऊपर प्रभाव डाला जाता

है) को अपने प्रभाव से संज्ञा-शून्य करके उससे अपनी इच्छानुसार कार्य कराता है। ऐसे कार्य स्वार्थ-साधन मात्र के लिए, परमार्थ से कोसों दूर, होते हैं और कर्ता का प्रभाव हटते ही मीडियम साधारण दशा से भी गिर जाता है। वह मैस्मेराजर के प्रति घृणा करने लगता है। और उससे भयभीत रहता है परन्तु शक्तिपात के द्वारा गुरू अपने शिष्य की आत्मशक्ति का विकास करता है। शिष्य की सर्वतोमुखी उन्नति होने से उसकी श्रद्धा बढ़ती जाती है और 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' के अनुसार वह अध्यात्म-ज्ञान प्राप्त करता है।

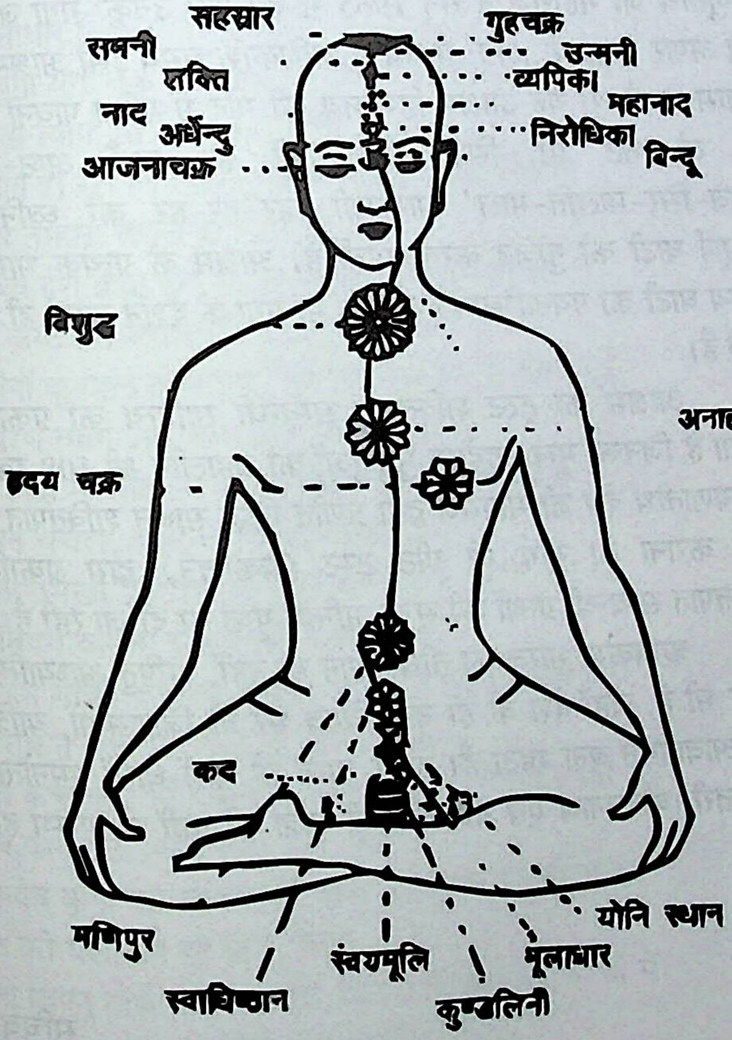
हम मृगतृष्णावत् आधुनिक पाश्चात्य भौतिक विज्ञान के पीछे पड़े हुए हैं। यह हमें उसी विनाश की ओर ले जायेगा जिसका फल आज पश्चिम भोग रहा है। यदि हम आत्मानन्द-लाभ करना चाहते हैं, यदि हमें वास्तविक सुख की इच्छा है, यदि हम अपनी सब प्रकार की उन्नति चाहते हैं, यदि हमें अपने देश, जाति और संस्कृति की रक्षा करनी है, तो हमें फिर 'योग साधन' में ही जुटना होगा। हृदय में तीव्र लालसा हो तो सद्गुरूओं का आज भी नितान्त अभाव नहीं है।

यह पुस्तक सहजसाध्य 'शक्तिपात' के विज्ञान को स्पष्ट करने के लिए परमदयालु श्री पं० मुनिलाल जी ब्रह्म स्वामी (श्री 108 स्वामी विष्णुतीर्थं जी महाराज) ने लिखकर साधकों का परमोपकार किया है।

नेमीचन्द,

अम्बाह (ग्वालियर स्टेट)

शक्तिपात कुण्डलिनी महायोग



यौगिक चक्र

योगश्री पीठ आश्रम : संक्षिप्त परिचय

योगश्री पीठ आश्रम की स्थापना ब्रह्मलीन श्री 108 स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज ने सन् 1965 में की थी। उनकी गंगा जी के प्रति अपार श्रद्धा थी, अत: वे वर्ष में अधिकांश समय इसी आश्रम पर निवास करते थे। यह आश्रम हिमालय की गोद में पतित पावनी गंगा जी के तट पर स्थित तप:स्थली है। यहाँ अष्ट-प्रहर 'शिव-सिर-मालति-माल' भागीरथी 'हर-हर-हर की ध्वनि से सम्पूर्ण घाटी को गुंजित करती रहती हैं। आश्रम के प्रत्येक भाग से सुरम्य घाटी का नयनाभिराम दृश्य एवं मां गंगा के दर्शन स्वत: ही होते रहते है।

आश्रम का ट्रस्ट शक्तिपात सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन करता है जिनका मूल उद्देश्य मुमुक्षुओं को ब्रह्मलीन श्री 108 स्वामी नारायणातीर्थ देव जी महाराज द्वारा प्रणीत सिद्ध साधन शक्तिपात का ज्ञान कराना है। योग श्री पीठ ट्रस्ट (प्रकाशन) द्वारा प्रकाशित शक्तिपात सम्बन्धी ग्रन्थों की सूची अन्तिम पृष्ठ पर दी जा रही है।

ऋषिकेश भारत का तीर्थ स्थान ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक केन्द्र भी है, जहाँ देश के ही नहीं विश्व भर के जिज्ञासुओं, यात्रियों का आवागमन बना रहता है। उत्तर भारत के चारों धामों यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी, केदारनाथ एवं बद्रीनाथ की यात्रा भी यहीं से प्रारम्भ होती है।

सचिव,
योग श्री पीठ ट्रस्ट, मुनि-की-रेती

भजन

हे कुण्डलिनी माँ जगदम्बा जागो जागो जागो जागो
हे मूलाधार निवासिनी माँ, जागो ....
तुम युगों युगों तक सुप्त रही, मैं विषय भोग में लिप्त रहा
अब तो त्यागो माँ निद्रा को, जागो ....
मैं आर्त हो रहा विषयों से, मुक्ति का द्वार नहीं मिलता
है द्वार तुम्हारा जगना ही, जागो........
गुरूदेव ईश ब्रह्मा तुम हो, शंकर नारायण तुम ही हो
अब कष्ट हरो जगजननी माँ........... जागो ....
है तीनों कुण्डल तीनां गुण, तुम सत् रज् तम् से ढकी हुई
आवरण त्याग अब जाग उठो, जागो.......
तेरी निद्रा में अतिशय दुःख, जीवों को भोग सताते हैं
है मन चंचल, आसक्त चित्त, जागो........
हो अन्तर्मुखी प्रवाहित माँ, तुम अग्नि रूप धारण कर लो
हो विषय वासना दग्ध तभी, जागो ....
मैं योग भक्ति जप तप संयम, अभिमान युक्त करता हारा
पर तुम न जगीं, न जगीं, न जगीं, जागो...........
अब कृपा करो माँ दयामयी, निज बंधन में मैं तड़प रहा
अब जाग उठो, अब जाग उठो, जागो ....
गुरूदेव कृपा का आश्रय ले, अब अन्तर्मुखी प्रकाशित हो
मन की मलीनता दूर करो, जागो ....
अब विष्णु तीर्थ का रूप धरो, विनय शिवोम् की चरणों में
अब तीर्थं बनो, अब तीर्थं बना, जागो ....

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

शक्तिपात

प्रथम पाद

शिवं गंगाधरं तीर्थं नारायणं प्रभुम् ।
योगानन्दमहं वन्दे, शक्तिपातस्य देशिकान् ॥

शक्ति-पाठ

ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ऊँ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः !!!

शक्तिपात एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा गुरू शिष्य में अपनी शक्ति का संचार करके उसकी आध्यात्मिक शक्ति को जगा देता हैं आध्यात्मिक शक्ति और आधिभौतिक शक्ति में बड़ा भेद है इसलिए आध्यात्मिक शक्ति का विज्ञान भी आधिभौतिक शक्तियों के विज्ञान से भिन्न होना स्वाभाविक है।

आध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन भौतिक यंत्रों द्वारा नहीं किया जा सकता, इसलिए यह विज्ञान अभी तक गुप्तप्रायः ही है और जिन लोगों को इसका अनुभव है, वे भी इसका अनुभव अपने सचेतन शीर में ही करते हैं और उसके दिव्य आनन्द में मस्त रहते हैं। इसलिए अथवा उक्त विज्ञान के अति सूक्ष्म होने से, न समझने के कारण, वे

लोग इससे होने वाले अनुभवों के वर्णन मात्र से ही सन्तोष मान लेना पर्याप्त समझ बैठते हैं। परन्तु पाश्चात्य भौतिक वैज्ञानिकों की अन्वेषण-प्रणाली का आधुनिक युग इतने से ही सन्तोष मान लेना पर्याप्त नहीं समझता।

इसमें सन्देह नहीं कि आधिभौतिक विद्याओं का सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्वान्वेषण करने के लिए पश्चिम के विद्वान करोड़ों रूपये खर्च करके, बहुमूल्य यन्त्रों का निर्माण करके उनके द्वारा अति सूक्ष्म विषयों को सिद्ध करने का यत्न करते हैं और गणित-शास्त्र की सहायता से उनकी पुष्टि करते हैं। परन्तु अध्यात्म-विद्या प्राप्त करने के लिए किसी यन्त्र की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा-रचित सजीव मनुष्य-देह ही यन्त्र और प्रयोगशाला दोनों का काम देता है। सम्भव है कि भावी युग के विद्वान आध्यात्मिक शक्ति के भी नियम, आधिभौतिक नियमों के सदृश्य खोज, निकालें और उनको गणित-शास्त्र के फार्मूलों (सूत्रों) में बाँध सकें, परन्तु आज यह सब असम्भव-सा प्रतीत होता है।

हमारे महर्षियों की छोड़ी हुई विद्या-सम्पत्ति के कोष-स्वरूप पातंजल दर्शन और अन्य योग के शास्त्रों में आध्यात्मिक उन्नति का ध्येय मोक्ष बताया जाकर कुछ भौतिक सिद्धियों का वर्णन किया गया है। पातंजल दर्शन के विभूति पाद में कुछ उच्च कोटि की सिद्धियों को प्राप्त करने के साधन लिखे हैं। उनपर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने से मालूम होता है। कि उनमें से हर-एक सूत्र में एक अति गहन वैज्ञानिक रहस्य भरा हुआ है। परन्तु उसको समझने के लिए पहले समाधि लगाने का अभ्यास होना अनिवार्य है।

यहाँ पर शक्तिपात में गुरू अपने शिष्यों में जिस आध्यात्मिक शक्ति का संचार करता है, वह शक्ति क्या और कैसी है, उसका स्वरूप क्या है, वह कहाँ और किस प्रकार उत्पन्न होती है, शिष्य में किस प्रकार गिरायी जाती है, वह शरीर के बाहर कैसे आती जाती है,

शिष्य के शरीर में प्रवेश कर के क्या करती है, उसका विकास शरीर और मन में किस प्रकार होता है और मनुष्य को कैसे-कैसे अनुभव होते हैं, उन अनुभवों के विकास का क्या कारण है और इन सब का अन्तिम परिणाम क्या होता? इत्यादि प्रश्नों पर हम इस पुस्तक में विचार करने की चेष्टा मात्र करते है ताकि अभ्यास करने वाले तथा अन्य विद्वानों का ध्यान इस विज्ञान की ओर आकर्षित हो।

आधिभौतिक और आध्यात्मिक विद्याओं की खोज चाहे उन के जिज्ञासुओं को एक समान आनन्द देने वाली हो और भौतिक विज्ञान की उन्नति चाहे संसार में भौतिक उन्नति को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दे, पर यह बात निश्चित ही है कि आधिभौतिक उन्नति का दुरूपयोग भी भरपूर किया जाता है। कुछ स्वार्थी लोग अथवा जातियाँ, - जो भौतिक विद्या की उन्नति के लिए करोड़ो रूपये खर्च करके वैज्ञानिक विद्वानों को सहायता देती हैं, - उनके परिश्रम के फल का उपयोग सार्वजनिक लोक-समाज के लाभार्थ नहीं, वरन् अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए करती हैं और उन वैज्ञानिक उन्नतियों का एक दुष्परिणाम जगत् का रूद्र संहार तक हो जाता है। आधुनिक दरिद्रता और नाना प्रकार के सन्तापों का कारण भी उक्त विद्याओं का दुरूपयोग ही है।

हम ऐसे युग में से निकल रहे हैं जिसमें मनुष्य अपनी त्रुटियों के कारण उक्त विद्याओं की सिद्धि करके उनसे लोक-अपकार ही अधिक करते हैं। सम्भव है कि आगे आने वाली सन्तानें अपने पूर्वजों के श्रम का लाभ उठा कर उनसे संसार का उपकार भी कर सकें, परन्तु आध्यात्मिक उन्नति में ऐसा भय होने की आशंका ही नहीं हो सकती।

आध्यात्मिक साधनों का लक्ष्य मोक्ष है और भौतिक विज्ञान का लक्ष्य भोग। भौतिक विज्ञान के जिज्ञासु एवं योग-साधन द्वारा सिद्धि-प्राप्त साधक दोनों की चित्तवृत्ति बर्हिमुखी रहती है जिससे

भौतिक विषयों में आसक्ति की वृद्धि ही होती है। जब तक ऐहिक एवं पारलौकिक सुखों से वैराग्य का उदय नहीं होता मोक्ष की बात करना व्यर्थ है। इसीलिए आध्यात्मिक के लिए निरोध-पूर्वक चित्तवृत्ति का सर्वथा अन्तर्मुखी करना अनिवार्य है। प्रत्येक बोध में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी रहती है। जब तक वास्तविक अथवा काल्पनिक किसी भी खोज के सांसारिक विषय हैं, तब तक उस ज्ञान का विषय ज्ञेयरूप से चित्त-पटल पर बहिर्वृत्ति के रूप में विद्यमान् रहता है, परन्तु ज्ञाता अपने को ज्ञेय से पृथक् समझता है। जिस समय चित्त पर से सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है अर्थात् ज्ञेय विषयों का अभाव हो जाता है, तब ज्ञान और ज्ञाता दो ही रह जाते हैं। परन्तु ज्ञान ज्ञाता का ही स्वभाव है, इसलिए ज्ञाता का ज्ञातृत्व भी नहीं रहता और आत्मस्थिति हो जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति ही आध्यात्मिक विद्या का लक्ष्य कहा गया है। आत्मत्व असंग एवं निर्विकार है-

नित्यशुद्धबुंद्धमुक्तस्वभावोऽयमात्मा ।

यह आत्मा स्वभाव से नित्य, शुद्ध बुद्ध, मुक्त है। उसे न कभी बन्धन होता है न होना संभव है। फिर बन्धन किसे है? 'जिसे बन्धन की अहं वृत्ति है' अर्थात् जो कहता है कि मैं बंधन में हूँ, उसी को बन्ध है। इसलिए यह समझाना आवश्यक है कि यह 'अहम्' अर्थात् 'मैं' का भाव है क्या? यदि चित्त को सिनेमा के परदे से उपमित करें, तो ऐसा समझें कि आत्मा के ज्ञानात्मक चेतन प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण चित्त में अहन्ता की वृत्ति जागृत हो जाती है। यद्यपि आत्मा अथवा उसका ज्ञान-रूपी प्रकाश जड़ चित्त नहीं बनता, न चित्त आत्मा बन सकता है, तथापि दोनों की तादाम्यता- सी प्रतीत होने लगती है। यही जड़-चेतन की मिथ्या ग्रन्थि है-

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई, जदपि मृषा छूटत कठिनई ।

यह अहम् वृत्ति के फैलने से फैलती है, सिकुड़ने से सिकुड़ती है और चित्त की सीमाओं में बंद है, जैसे सिनेमा के परदे

पर प्रकाश। इसलिए आत्मा भी चित्त की उपाधियों की सीमा में बँधा-सा भासित होता है। सामान्यतया बन्धन में पड़े हुए जीव के लिए 'चित्मात्मा' अर्थात् 'चित्त ही आत्मा है' कहना उपयुक्त है।

चित्त अणुरूप होने से आत्मा में भी अणु का आभास होता है। जब जीव शक्ति के लिए छटपटाता है, तब आध्यात्मिक साधनों की खोज में लगता है। मन्त्रों का जप, पुरूश्चरण, यज्ञ-यागादि के अनुष्ठान, अष्टांग, योग और हठादि योगों की क्रियाओं का अभ्यास, भक्ति मार्ग के विभिन्न आचार्यों के अनुसार यत्न एवं तप-प्रयास-साध्य साधनों द्वारा वह आत्म-कल्याण चाहता है। यत्न-साध्य ऐसे सब प्रयत्न जो मनुष्य की अल्पबुद्धि के आधार पर आश्रित है, उन्हें आणवोपाय कहा गया है।

'दीर्घकाल नैरन्तर सत्कारा सेवितो दृढ़भूमि' होने पर जब अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोधादि से मुक्त होने पर साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है, तब वास्तविक श्रेय की प्राप्ति के मार्ग पर आरूढ़ होता है। तब उसकी सब जीवन-यात्रा भगवदाश्रित स्वतः सिद्ध हो जाती है-

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

–गीता, 18-53

इस अवस्था में साधक आणवोपाय से शाम्भवोपाय में प्रवेश करता है। उसकी अहं बुद्धि चित्त की आणवी स्थिति से उठकर शाम्भवावेश में चढ़ जाती है। उक्त शाम्भवी स्थिति में पहुँचने का एक अन्य उपाय भी है जिसे शाक्तोपाय कहते है। ईश्वर सबके हृदय में विराजते हैं और उनके साथ ही उनकी परा शक्ति भी विराजती है-

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ।

–श्वे0, 6

उसकी परा शक्ति विविध नामों से सुनी जाती है जो स्वाभविकी है और ज्ञानवती, बलवती एवं क्रियावती है। परन्तु वह परा देवात्मिका शक्ति सर्वसाधारण में सुप्तावस्था में है, इसीलिए हृदयस्थ ईश्वर से किसी का परिचय नहीं होता। जब किसी समर्थ गुरू की कृपारूप शक्तिपात द्वारा उस शक्ति का उद्बोधन हो जाता है, तब सब साधन स्वतः होने लगते हैं और उसकी क्रियाओं में ईश्वर का परिचय होने लगता है।

जाके हृदय नारायण प्रगटे, सो कछु कर्म करे न करे। प्रात समय रवि उदय हुआ तब दीपक ज्योति जरे न जरे।

अब आगे आध्यात्मिक विद्या के जिज्ञासुओं के लाभार्थ आध्यात्मिक उन्नति के इस मुख्य साधन 'शक्तिपात' के विज्ञान की व्याख्या करते हैं।

1. अथातः शक्तिपातं व्याख्यास्यामः ।

अब यहाँ से हम शक्तिपात की व्याख्या करेंगे।

'अथ' शब्द का प्रयोग मंगलार्थ किया जाता है। जैसा कि कहा है-

ऊँ कारश्चाथ शब्दश्च द्वावतौ ब्राह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ।।

- 'ऊँ कार' और 'अथ' दोनों शब्द पहले ब्रह्माजी के कण्ठ को भेद कर बाहर निकले थे, इसलिए ये दोनों माङ्गलिक शब्द है।'

यहाँ पर 'अथ' शब्द का प्रयोग आनन्तर्यार्थ में किया गया है। यद्यपि 'शक्तिपात' की दीक्षा ग्रहण करने के लिए किसी पूर्व साधन अथवा किसी शास्त्र के अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। जिस पर गुरू अनुग्रह करते है, उसी को इसी की प्राप्ति हो सकती है, चाहे शिष्य शास्त्रों का विद्वान हो, चाहे कुछ भी पढ़ा न हो, उसने योगानुष्ठान किया हो अथवा न किया हो। बिना पूर्वानुष्ठित तैयारी की

अपेक्षा के, गुरू के, 'शक्तिपात' रूप अनुग्रह से, शिष्य की शक्ति का उद्बोधन हो जाता है।

यहाँ 'शक्तिपात' के विज्ञान की व्याख्या करने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक भौतिक विज्ञानों के अन्वेषणों के सदृश्य पूर्वावार्यों की अपेक्षा न रखता हो, - यह ऐसा स्वतंत्र विज्ञान नहीं है। शक्तिपात एक साधन है जिसके द्वारा अधिकारी-शिष्य में गुरू के अनुग्रह से हठात् योग, भक्ति एवं ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान का आवेश जागृत किया जा सकता है। भगवान् महर्षि पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिए आठ साधन कहे हैं और उन आठों के अन्तर्गत ही वृत्ति-निरोध के समस्त साधनों का समावेश है। तदनुसार यह साधन भी उक्त आठ साधनों के अन्तर्गत ही है, जैसा कि आगे बताया जायेगा। इस दृष्टि से पातंजल दर्शन की तरह यहाँ भी 'अथ' शब्द का प्रयोग अधिकरण अर्थ में समझा जाना उचित प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि शक्तिपात दीक्षा का अधिकारी बनने के लिए पूर्वार्जित सत्कर्मों अथवा अन्तःकरण शुद्धि के विभिन्न साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता है (देखें, सूत्र 2, 4)

पातंजल दर्शन में बताये हुए चित्तवृत्ति-निरोध के आठ उपाय ये है:-

1. अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध उनका निरोध अभ्यास और वैराग्य द्वारा होता है। इन दोनों की सर्वोपरि गणना है, क्योंकि अभ्यास के बिना कोई साधन नहीं हो सकता और अभ्यास को दृढ़ रखने के लिए सांसारिक विषयों एवं स्वर्गादि अथवा योग की सिद्धियों के प्रलोभनों से वैराग्य का धारा-प्रवाह होना सदा आवश्यक है। वैराग्य का अर्थ भोगों का त्याग नहीं है, क्योंकि सुख-दुखों को भोगने के लिए तो जन्म होता ही है। वैराग्य से अनासक्ति का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। जो मनुष्य वीतरागद्वेष होकर संसार के सभी विषयों का धर्मयुक्त उपभोग करते हैं वे विरक्त ही हैं।

2. ईश्वर प्राणिधानाद्वा अथवा ईश्वर– प्राणिधान से भी वृत्तियों का निरोध होता है। ईश्वर–प्रणिधान का अर्थ ईश्वरार्पण अथवा ईश्वर–शरणागति समझना चाहिए। पर–प्रेमरूपा भक्ति भी इसी का अंग कही जा सकती है, क्योंकि समर्पण अथवा शरणागति में अनन्यता का भाव ओतप्रोत है।

'प्राणिधान' शब्द से एक विशेष अर्थ की भी ध्वनि निकलती है। प्र+नि+धान त्र प्र (प्रकर्ष), नि (निश्चयपूर्वक)। 'धा' धातु से ल्युट् प्रत्यय द्वारा 'प्रणिधान' शब्द की व्युत्पत्ति है। 'धा' धातु का अर्थ 'धारण करना' है। ईश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करते हैं। यद्यपि वे परोक्ष रहते हे तथापि श्रद्वावान भक्तों के हृदय में शक्तिपात द्वारा प्रकट हो जाते हैं और प्रत्यक्ष होकर साधक को अपनी साम्यता प्रदान करते है।

यदा पश्यः पश्यते रूक्मवर्ण कर्तारमीशं पुरूषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परम साम्यतामुपैति।।

–मुण्डक

पातंजल दर्शन में ईश्वर को जीवभाव से रहित, सर्वज्ञता का बीज और पूर्वजों का भी गुरूरूप पुरूषविशेष कहां है। इसका अभिप्राय यह है कि मन–बुद्धि की पहुँच से भी परे इस पुरूषविशेषरूपी गुरू का साक्षात् अपनी देह में ज्ञानमयी शक्ति में सर्वज्ञता के बीच के क्रमशः विकास द्वारा किया जाता है इस विकास के साधन क्रम को 2, 1 सूत्र में 'क्रिया–योग' की संज्ञा दी है जिसका फल क्लेशों का तनुकरण और समाधि–भावनार्थ कहा गया है। तब अविद्यादि के क्षयाभिमुख होने पर अष्टांग योग अथवा अन्य किसी परिश्रम–साध्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती।

'समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् ।'

3. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य अथवा प्राण के रेचन और विधारण द्वारा भी किया जाता है।

4. विषयावती वा प्रवृत्तिरूत्पना मनसः स्थिति निबन्धिनी- अथवा मन की स्थिति को बांधने वाली (दिव्य गंध, दिव्य रस, दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श और दिव्य शब्द) विषयवती प्रवृत्ति के उत्पन्न होने से भी चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है, क्योंकि सांसारिक विषयों से चित्त में स्वभावतः उपरति होकर इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होन लगती है।

5. विशोका वा ज्योतिष्मती- अथवा विशोका नाम की ज्योतियों के दर्शन होने सेभी वृत्तियों का निरोध होता है।

6. वीतराग विषयं वा चित्तम् अथवा ऐसे चित्त का आलम्बन लेने से, जो साधन-सम्पन्न होकर वीतराग हो चुका है।

यहाँ पर ऐसे गुरूजनों के चित्त का आलम्बन लेने का उपदेश किया गया है जो राग-द्वेष से मुक्त हो गये है। उनके चित्त का आलम्बन किस प्रकार किया जा सकता है? यह बात विचारणीय है। बहुतों का मत है कि उनके फोटो आदि के ध्यान अथवा स्मरण मात्र से उनके चित्त का आलम्बन मिल जाता है। यह बात सर्वथा निर्मूल तो नहीं है, क्योंकि अनुभव से देखा गया है कि ऐसे महात्माओं के ध्यान अथवा स्मरण से लाभ होता है, परन्तु इस प्रकार हर किसी को यथेष्ट लाभ की सम्भावना नहीं है। दूसरी रीति, जिससे उनके चित्त का आलम्बन मिलता है, वह 'शक्तिपात' है, क्योंकि शक्तिपात वीतराग गुरूओं के अनुग्रह से ही हुआ करता है। इसमें पूर्ण लाभ की प्राप्ति होती है।

7. स्वप्न निद्रा ज्ञानालम्बनं वा अथवा स्वप्न और निद्रा के (अथवा और निद्रा में आये हुए) ज्ञान का आलम्बन लेने से भी वृत्तियों का निरोध होता है।

स्वप्न और निद्रा के ज्ञान में एक विशेषता यह है कि तब जाग्रतावस्था का देहाभिमान नहीं रहता। स्वप्न में तो उसके स्थान पर काल्पनिक देहाभिमान खड़ा हो जाता है। इसलिए जागृति में स्वप्न की सी अवस्था लाने से देहाध्यास पर नियन्त्रण पाया जा सकता है। दोनों अवस्थाओं में जागृत की इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, स्मृति सब अपने-अपने

कारणों में विलीन होते है। सुषुप्ति में केवल प्राण कार्य करता है। स्वप्न में संस्काराशय के संस्कार उदयास्त होते रहते हैं सुषुपित को प्रकृति की अव्यक्त दशा एवं कारण शरीर समझना चाहिए जिसमें तीनों गुणों की साम्यावस्था रहती है और अविद्या के वशीभूत जीव अपने स्वरूप में स्थित नहीं होता। सुषुप्ति को भी चित्त की एक वृत्ति कहा गया है। चित्त से तादात्म्य मानने के कारण, अन्य वृत्तियों के सदृश्य, उसकी इस वृत्ति से भी आत्मा बन्धन में रहता है। इसलिए सुषुप्ति का भी विरोध होने पर समाधि में दृष्टा की स्वरूप-स्थिति कही गयी है।

8. यथाभिमद्ध्यान द्वा अथवा जैसा भी ध्यान किसी को अच्छा लगे, उसी ध्यान से वृत्तियों का निरोध होता है। हर एक प्रकार के साधन में चित्त की प्रसन्नता अति आवश्यक है। इसलिए चित्त को सदा प्रसन्न रखने का उपाय और उपदेश भी साथ-साथ दिया गया है सुखी को देखकर प्रसन्नता आर पापी को देखकर उपेक्षा का भाव लाने से चित्त में आध्यात्मिक प्रसाद आता है।

यद्यपि शक्तिपात द्वारा उपरोक्त सभी साधन स्वयं होते हैं, परन्तु इस विज्ञान का सम्बन्ध विशेष रूप से 'वीतराग' विषयं वा चित्तम्' से ही है।

शक्तिपात द्वारा योग एवं भक्ति के ही दिव्यावेश जागृत नहीं होते, वरन् ब्रह्म का ज्ञान भी शक्तिपात दीक्षा द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं। जैसा कि कहां है -

तत्व ज्ञानेन मायाया बाधों नान्येने कर्मणा।
ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्व गोचरम्।।
तच्च देव प्रसादेन गुरः साक्षान्निरीक्षणात्।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम्।।

-ब्रह्माणिका

-माया का बोध तत्व-ज्ञान से होता है, -अन्य कर्म से नहीं। जो

वेदान्त–वाक्यों द्वारा ब्रह्म और जीव के एकत्व की अनुभूति कराता है, वह ज्ञान ईश्वर के प्रसाद और गुरू के साक्षात् निरीक्षण से अधिकारियों में महावाक्य के उपदेश द्वारा शक्तिपात करने से उदय होता हैं।

जिस शक्ति का उल्लेख प्रथम सूत्र में किया गया है, वह कैसी है? प्रकृति से उत्पन्न होने वाली विद्युदादि के सदृश्य है अथवा भिन्न प्रकार की है? इस शंका का उत्तर नीचे दिया जाता है।

2. शक्तिर्ह्यात्मनः श्रुतेः।

वह शक्ति आत्मा से ही है, श्रुति का प्रमाण है। वेदों में इस शक्ति का स्थान–स्थान पर वर्णन मिला है। यहाँ पर हम अथर्व संहिता के एकादश काण्ड में आठवें सूक्त के 16, 17 वे मंत्रों में स्पष्ट रूप से दिये हुए वर्णन का उल्लेख करते हैं–

यत्तच्छरीरे मशयत् सन्ध्या संहितम् महत्।
येनेदमद्य रोचेत को अस्मिन् वर्णमाभरत्॥
सर्वे देवा उपाशिक्षन् तद जानाद् वधूः सती॥
ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत्॥

'यह बड़ा शरीर 'सन्ध्या' (जोड़ने वाली) नाम की शक्ति से जुड़ा हुआ भी निश्चेष्ट पड़ा हुआ था। 'जिसके कारण यह सब अच्छा लगता है, वह कौन है, जिसने इसमें प्रकाश का आमरण किया है?'' देवताओं ने यह सब जानने की प्रार्थना की। तब उस धारण करने वाली वधू सती ने बताया कि परमेश्वर की ईश्वरी (शक्ति), जो उसकी जाया (पत्नी) है, उसने इस शरीर में वर्ण अर्थात् चेतना रूप प्रकाश का आभरण किया है।

शक्ति दो प्रकार से उत्पन्न होती हुई देखी जाती है– (1) यन्त्रों द्वारा, जैसे भाप के दबाव से बनायी हुई रेलवे इंजन आदि की अथवा बैटरी या डायनुमों जैसे यंत्रों से उत्पन्न की हुई विद्युतादि की

शक्ति, (2) मनुष्यों अथवा पशुओं के शरीर के बल से उत्पन्न हुई शक्ति। जो कार्य यंत्रों द्वारा किया जाता है, वह छोटे पैमाने पर बैल, भैंस, घोड़े आदि पशुओं अथवा मनुष्य के शारीरिक बल से भी किया जा सकता है और दोनों का कार्य एक सदृश्य ही प्रतीत होता है। क्या शक्तिपात में उल्लिखित शक्ति भी इसी प्रकार की शक्ति है? यद्यपि मनुष्य और पशुओं के शारीरिक बल से उत्पन्न शक्ति वास्तव में आत्मा से ही उदित है अथवा आत्मा ही उसका कारण है, परन्तु उसका कार्य अचेतन यन्त्रों से उत्पन्न शक्तियों के समान ही जड़वत् होता है, इसलिए दोनों में कोई भेद नहीं दीख पड़ता है। दोनों अचेतनवत् कार्य करती है। इस शंका का समाधान आगे किया जाता है।

3. चितिर्वा

अथवा वह चिति शक्ति ही है।

चिति का तात्पर्य यह है कि चिति शक्ति चेतन शक्ति है, अचेतन नहीं है।

ब्रह्म सत्, चित्त, आनन्द (सच्चिदानन्द) स्वरूप है। पंचभौतिक जड़ चेतन तत्वों में सत् शक्ति की ओर अन्तःकरण चतुष्टय एवं इन्द्रियादि चेतन तत्वों में चित्त की प्रधानता होती है। चित्त शक्ति को चिति भी कहते हैं। सच्चित् शक्ति का स्थूल आणविक रूप चित्त कहलाता है, उस पर पड़ा आत्मा का प्रकाश चेतना कहलाता है। सच्चित् शक्ति को ही प्रकृति भी कहा गया है। प्रकृति के 3 गुणों में तमोगुण सत् शक्ति और सत्वगुण चित् शक्ति प्रधान है। रजोगुण क्रिया रूप होने से दोनों ओर कार्य करता है।

4. ज्ञानवती च।

और ज्ञानवती भी है।

5. प्राणोवा श्रुतेः।

अथवा उसको प्राण भी कहते है, श्रुति का प्रमाण है।

वेदों ने संहिताओ, ब्रह्मणों और उपनिषदों में सर्वत्र प्राणों की उपासना करने का विधान किया है और प्राण के स्वरूप, स्थान और उद्गम का भी बार-बार वर्णन किया है। वेदोक्त प्राण श्वास और प्रश्वास से भिन्न कोई अन्य पदार्थ है। वह आत्मा से ही उत्पन्न होने पर भी आत्मा या ब्रह्म के ही व्यक्त स्वरूप शक्ति का रूप धारण किये हुए हैं, जैसा कि नीचे दी हुई श्रुतियों से स्पष्ट है। आत्मा अविकारी एवं अपरिणामी है, उससे उद्भूत शक्ति ही परिणत होकर जगत् का रूप धारण किये हुए है। शक्ति के सहयोग से आत्मा की व्यक्तता कही जाती है।

आत्मनः एष प्राणो जायते,
मनोधिकृतेना यात्यस्मिन् शरीरे ।

–प्रश्न0 33

'आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है, मन के सहारे यह शरीर में आता है।'

एतस्मात् जायते प्राणः

–मुण्डक 2, 1, 3

प्राण ब्रह्म से उत्पन्न होता है।

सर्वाणि हवा इमानि भूतानि-
प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणम् भ्युज्जिहते।

–छा0 1, 11, 5

निश्चयपूर्वक यह सब सृष्टि प्राण में ही लय होती है और

प्राण से ही उत्पन्न होती है।

या प्राणेन संभत्यदिति देवतामयी,
गुहांप्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत, एतद्वैतत्॥

– कठ0 4, 7

देवताओं जो 'अदिति' शक्ति प्राण के द्वारा उत्पन्न होती है, हृदयाकाश रूपी गुहा में प्रवेश करके वहाँ ठहरी हुई भूतों के द्वारा व्यक्त होती है, निश्चय से वह ब्रह्म ही है।'

प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः।

–छा0 5, 8, 2

हे सौम्य! निश्चय से मन प्राण के बन्धन में है।'

स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः ।
कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषत् 3, 8

'वह आनंद स्वरूप, अजर, अमर, प्रज्ञात्मा यह प्राण ही है।'

ब्रह्म सूत्रों में 'अतएव प्राणः' 1।1।23 सूत्र द्वारा कहा है कि यह प्राण श्वास–प्रश्वास–गति–स्वरूप वायु नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है।

आत्मा का अर्थ शुद्ध स्वरूप आत्मा ब्रह्म ही समझना चाहिए। पिण्ड में शुद्ध आत्मा और ब्रह्माण्ड में ब्रह्म अथवा दोनों जगह ब्रह्म ही कह सकते हैं। जो लोग जीव–ब्रह्म की एकता नहीं मानते, उन्हें आत्मा का अर्थ बन्धन में पड़ा हुआ अहंकारादि उपाधियों से युक्त जीव नहीं, वरन् अन्तर्यामी परमात्मा ही समझना चाहिए, क्योंकि परमात्मा शक्ति ही मोक्ष–साधन करा सकती है।

शक्ति न तो शक्तिमान् से भिन्न है और न ही उससे पृथक अन्य वस्तु है। हम शक्ति के भौतिक और चेतन दो रूप देखते हैं। प्रकृति के सब कार्यों को चलाने के लिए अनन्त शक्ति–भण्डार प्रकृति में दीख पड़ता है। पृथ्वी, जल, वायु और आकाश के

अणु-अणु में इतनी शक्ति भरी हुई है कि आधुनिक वैज्ञानिकों की बुद्धि उसका परिमाण आंकने में अभी तक असमर्थ ही रही है। प्रकृति के साधारण से कार्यों में अनन्त शक्ति का उत्पन्न और लय होना देखा जाता है। साधारण-सी बादल की गर्जना में इतनी विदयुच्डछक्ति उत्पन्न होकर लय हो जाती है जितनी कि बड़े बड़े विद्युत-यंत्रालय उत्पन्न भी नहीं कर सकते। आणविक अस्त्रों का विस्फोट इसका प्रमाण है। ऐसा ही हाल चेतन शक्ति का भी है। हाथी, सिंह आदि पशुओं द्वारा कितनी शक्ति व्यय होती रहती है।

दोनों प्रकार की चेतन-अचेतन शक्तियों का शक्तिमान् कौन है? हम यदि ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते हैं तो यह मानना भी अनुचित नहीं है कि जड़-चेतनमय जगत् में जो कुछ व्यापार घटित होते हैं, वे सब उस शक्तिमान् की शक्ति के ही कार्य है। यदि ऐसा माना जाय तो क्या प्रकृति की संचालक इन शक्तियों को ही शक्तिमान् समझ लिया जाय अथवा शक्तिमान् शक्ति से भिन्न ही है? इसका उत्तर समझाने के लिए हम एक दृष्टान्त देकर विचार करते हैं।

थोड़ी देर के लिए यह मान लें कि मनुष्य की शक्ति सर्वशक्तिमान् से भिन्न शरीरस्थ आत्मा की ही शक्ति है। हम देखते हैं कि मनुष्य की शक्ति बाल, युवा, वृद्धा, स्वस्थ, रूग्ण अवस्थाओं के भेद से न्यूनाधिक होती रहती है। क्या इस शक्ति को उत्पन्न करने वाला आत्मा कभी कम और कभी अधिक शक्ति वाला हो जाता है? फिर, वही आत्मा जन्मान्तर के कीट आदि के शरीरों को त्याग कर ही पशु और मनुष्यादि शरीरों को धारण करता है तो क्या आत्मा की शक्ति में परिवर्तन हो जाता है?

यदि ऐसा माना जाय तब तो आत्मा को विकारी और प्रयत्नशील मानना पड़ेगा। परन्तु यह बात सिद्धान्त के विरूद्ध है।

इसलिए यह सिद्ध होता है कि आत्मा, जो स्वयं असंग है, शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार की उपाधि के कारण न्यूनाधिक

शक्ति वाला प्रतीत होता है। बालक के शरीर में कम बल होता है, युवा अवस्था में अधिक। इसका कारण आत्मा का विकार नहीं है वरन् शरीर रूपी उपाधि का विकार है। मनुष्य अपने बल का अनुमान नहीं कर सकता और साहस, धैर्य एवं विश्वास से अपने बल की वृद्धि कर लेता है। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा निर्विकार होते हुए भी अहंकार के माध्यम से शरीरादि उपाधियों में शक्ति की व्यक्तता प्रकट करता रहता है। वास्तव में आत्मा अनन्त शक्तिमान् होते हुए भी निष्क्रिय रहता है, और उसकी शक्ति उसने सदा एक समान अव्यक्त रहती है परन्तु उसके प्रकाश के कारण शरीरादि उपाधियों में शक्ति की व्यक्तता होती रहती है।

आत्मा एक चुम्बक पत्थर (Magnet) के सदृश्य है जिसे प्रभाव-क्षेत्र (Magnet field) में लोहे के टुकडे उसी की शक्ति को व्यक्त करते रहते है। परन्तु अपने प्रभाव-क्षेत्र में अव्यक्त रूप और लोहे के टुकड़ों में व्यक्त रूप में नृत्य करने वाली शक्ति तो एक ही है। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् ब्रह्म और प्रकृति की समस्त जड़ चेतनमय शक्तियों को समझना चाहिए।

सांख्य के मतानुसार प्रकृति के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, 5 तन्मात्राएँ, 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, मन अहंकार, महत्तत्व और अव्यक्त,- ये 24 तत्व हैं। ये सब परमात्माशक्ति के कारण ही जड़-चेतनमय शक्ति व्यक्त करते रहते हैं। प्रथम पाँच तत्वों में शक्ति की व्यक्तता अचेतनवत् और शेष 18 तत्तवों में चेतनवत् है। अव्यक्त में शक्ति बीज की तरह प्रसुप्त (Potential) रहती है। अन्य तत्व उसी के क्रियात्मक रूप (Kinetic) हैं। अव्यक्त (Potential form) प्रकृति है। महत्, अहंकार, पंचतन्मात्राएँ- ये सातों विकृति-विकृति स्वरूप (Partially potential and kinetic) हैं, मन, पाँच, ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक इन्द्रियाँ और 5 महाभूत,- ये 16 विकृति स्वरूप (Kinetic) हैं। पुरूष न प्रकृति है, न विकृति है।

(neither potential nor kinetic)

इसलिए शक्ति भी ब्रह्म ही है और उपरोक्त श्रुतियों का तात्पर्य यही है कि वह ब्रह्म ही प्राण है। यद्यपि शरीर में प्राण के पाँच क्रियात्मक रूप, – प्राण अपना, समान व्यान, और उदान,–प्रतीत होते हैं और बाहर सूर्य-शक्ति प्राण, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति अपान, आकाश (Ether) समान, वायु व्यान और अग्नि उदान है। ब्रह्म रूपी चुम्बक के चुम्बकीय-क्षेत्र को प्राण कहते हैं। वह उपाधियों के आधार पर नाना रूप से चेतन-अचेतन शक्ति की व्यक्तता का कारण है। परन्तु चुम्बक और चुम्बकीय क्षेत्र स्थूल और सूक्ष्म होने के कारण अलग-अलग मालम होते हैं। ब्रह्म तो सर्वव्यापी होने के कारण सत्-चित्-आनन्दस्वरूप चुम्बकीय क्षेत्र ही है। उसमें कभी कोई विकार नहीं होता, वह सदा अव्यक्त और प्रशान्त रहता है। वह न कभी प्रसुप्त (Potential) रूप धारण करता है और न क्रियात्मक (Kinetic)। प्रकृति उसकी माया है। जो शक्ति पाँच महाभूतों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, उसको हम जड़ शक्ति कहते हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार के माध्यम से जो व्यक्त होती है, वह चेतन कहलाती है। परंतु महत् तत्व और उससे उत्पन्न हुए अहंकार के माध्यम से जो शक्ति व्यक्त होती है, वहीं आध्यात्मिक शक्ति है, जिसका प्रयोग शक्तिपात में होता है। कहा है–

यदिदं किचं जगत्सर्व प्राण एजति निःसृतम्।

–कठ0

अर्थात् जो कुछ यह जगत् है, वह सब ब्रह्म से निस्सृत प्राण का ही स्पन्दन मात्र है।

6. सैव कुण्डलिनी

वही कुण्डलिनी है

मनुष्यों में उक्त आध्यात्मिक शक्ति को कुण्डलिनी कहते है। कुण्डलिनी का आकार सर्पाकार माना गया है। ब्रह्माण्ड को धारण

करने वाला शेष भी सर्पाकार ही माना जाता है। इसलिए ब्रह्माण्ड और पिण्ड को धारण करने वाली वह शक्ति एक ही है।

कुण्डल्येव भवेच्छक्ति स्तां तु संचालयेद बुधः।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते॥

–योग कुण्डल्युपनिषत्

–'कुण्डलिनी ही शक्ति है, बुद्धिमान उसको उसके स्थान मूलाधार से भ्रूमध्य तक संचालित करें। यही शक्ति–चालन कहलाता है।

ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभस्वरा ।
सत्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रय प्रसूतिका ॥
महा कुण्डलिनी प्रोक्ता परबह्म स्वरूपिणी ।
जीव शक्तिः कुण्डलाख्या प्राणकाराथ तेजसी ॥

– 'इस शक्ति को स्वर्णवत् कान्तियुक्त, सत्व–रज–तम तीनों गुणों को उत्पन्न करने वाली, विष्णु की निर्भया शक्ति जानना चाहिए। यह परब्रह्म स्वरूपिणी शक्ति कुण्डलिनी भी कही जाती है। यही जीवरूपिणी शक्ति है। वह कुण्डलों वाली, प्राणाकार और तेजमयी है। यन्त्रों द्वारा उत्पन्न कार्य करके समाप्त हो जाती है परन्तु अनन्त शक्ति शान्त नहीं हो सकती। वह अनन्त कार्य करके भी अनन्त ही बची रहती है। उस बची हुई शक्ति को पुराणों में समष्टि का आधार 'शेष' एवं अथर्व वेद में 'उच्छिष्ट (उत+शिष्ट) ब्रह्म' कहा गया है। व्यष्टि रूप में प्राणियों के शरीरों की रचना के पश्चात् उच्छिष्ट शक्ति शरीराधार रूपा कुण्डलिनी कही जाती है। दोनों को सर्पाकार माना गया है। कुण्डलिनी का अर्थ भी 'कुण्डल डाले सर्पिणी' ही है।

शक्तिपात द्वारा शक्ति–चालन उसी क्षण होने लगता है। प्रथम सूत्र में 'शक्तिपात' शब्द का प्रयोग किया गया है, न कि केवल 'शक्ति' का अर्थात् यहाँ पर शक्ति' के विज्ञान की व्याख्या नहीं, वरन्

उसे 'पात' की व्याख्या किये जाने की प्रतिज्ञा है। इसलिए यह शंका होती है कि शक्ति का पात किस पर होता है? उत्तर अगले सूत्र में है–

7. तत्पातः शिष्येषु ।

उस शक्ति का पात शिष्यों में होता है।

सूत्र में शिष्य कहने से स्पष्ट है कि गुरूजन अपने शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति का पात करते हैं। गुरू-शिष्य का सम्बन्ध इस बात का द्योतक है कि गुरू अपनी विद्या से शिष्य की उन्नति करना चाहता है। इसीलिए इस सूत्र से यह भाव भी स्पष्ट निकलता है कि शक्तिपात शिष्यों के कल्याण के लिए ही किया जाता है। जैसे लौकिक गुरू शिष्यों की मानसिक उन्नति के लिए विद्या पढ़ाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिए शक्तिपात किया जाता है।

8. ततः शक्त्युद्बोधनम् ।

इससे शक्ति का उद्बोधन होता है।

अर्थात् गुरू द्वारा शक्तिपात होने से शिष्य की शक्ति जाग उठती है। इसका अभिप्राय यह है कि हर एक मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति सोयी हुई है। जगाने पर उसके स्वरूप का अनुभव होने लगता है। शिष्य की शक्ति को जगा देने का ही नाम 'शक्तिपात' है, जैसा कि 'शक्तिरहस्य में कहा है–

व्यापिनी परमा शक्तिः पतितेत्युच्यते कथं?
ऊद्ध्र्वाद्धोगतिः पातो मूर्तस्यासर्वगतस्य च ।।
सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शववत् स्थिता ।
किन्त्वियं मलकर्मादि पाशवद्धेषु संवृता।
पक्वदोषेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते ।।

–'वह परमा शक्ति सर्वव्यापिनी है। तब उसे 'पतिता' अर्थात् 'गिरती है'– ऐसा क्यों कहते हैं? एकदेशीय, मूर्तिमान, जो सर्वव्यापक नहीं है, उसी का ऊपर से नीचे गिरने की गति को 'पात' कह सकते

हैं। सत्य ही वह सर्वव्यापिनी है और स्वभाव से शिववत् स्थित है, किन्तु कर्मों के मल के पाश से आवृत रहती है। जब दोषों के पक जाने पर वह अच्छी तरह व्यक्त हो जाती है, तब उसे पतिता' (शक्तिपात) कहते है'

9. प्राणोत्थानं वां ।

अथवा यों कहें कि प्राण का उत्थान हो जाता है। प्राण शक्ति, जो मनुष्य के मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर को धारण किये हुए हैं, -वह शक्ति के जागने पर ऊर्ध्वगामी होने लगती है।

10. ततो महायोगसिद्धिः ।

उस (शक्ति के जागने) से महायोग की सिद्धि होती है।

11. योगः समाधिरिति भगवान् वेदव्यासः ।

'योग समाधि ही है' -ऐसा भगवान् वेदव्यास ने कहा है। समाधि दो प्रकार की होती है- संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। जिसमें प्रज्ञा बनी रहे, वह समाधि 'संप्रज्ञात' और जब प्रज्ञा का सर्वथा निरोध हो जाय, तब असंप्रज्ञात समाधि कहलाती है। 'संप्रज्ञात' को 'सबीज' और 'असंप्रज्ञात' को 'निर्बीज' समाधि भी कहते हैं। संप्रज्ञात के 6 अवान्तर भेद हैं, 'सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सानन्द और सास्मिता।

12. चित्तवृत्तिनिरोधः इति भगवान् पतंजलिः ।

'चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं' -ऐसा भगवान पतंजलि का मत है।

पातंजल योगदर्शन का सूत्र है- 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' - अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं।

उक्त सूत्र में निरोध के पहले कोई विशेषण नहीं लगाया गया कि कैसे, कितने निरोध को योग कहते हैं? इसलिए थोड़े निरोध को भी योग कह सकते हैं और सर्वथा निरोध को भी योग कहते हैं। उन्होंने योगानुष्ठान के आठ अंग बताये हैं, - यम, नियम, आसन,

प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि। इसका अर्थ यह है कि वृत्तियों का निरोध थोड़ा- बहुत तो 'यम' से ही होने लगता है और सर्वथा निरोध निर्बीज समाधि में होता है। चित्त - तमस् रजस् और सत्व तीनों गुणों से युक्त रहता है। इनमें से कोई एक प्रधान रूप से और शेष दोनों उससे दबे हुए रहा करते हैं। तमोगुण से मूढ़, रजोगुण से क्षिप्त, रज-सत्व से विक्षिप्त, सत्व से एकाग्र और तीनों के न्यूनाधिक निरोध से निरूद्धावस्था की भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ आती हैं। एकाग्र और निरूद्ध अवस्थाएँ योगियों को ही होती हैं, सर्व-साधारण को नहीं होती।

वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश पाँचों क्लेशों से युक्त होती हैं तथा इनसे रहित भी होती हैं। अनित्य में नित्यता की, अपवित्रता में पवित्रता की, दुःख में सुख की और अनात्म वस्तुओं में आत्मा की भावना रहना 'अविद्या' है। 'मैं हूँ'- यह भाव 'अस्मिता कहलाता है। विषयों में आसक्ति को 'राग' और घृणा को 'द्वेष' कहते हैं। सदा- जीने की इच्छा अथवा मृत्यु के भय को 'अभिनिवेश' कहते हैं। बन्धन में पड़े हुए मनुष्यों की वृत्तियाँ इन पाँचों से युक्त होती है और जीवन-मुक्त महात्माओं की वृत्तियाँ इनसे रहित होती हैं। पाँचों प्रकार की वृत्तियाँ नीचे दी जाती है।

1. **प्रमाण**- यह वृत्ति तीन भेद वाली होती है, - प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और आगम प्रमाण। देखने, सूँघने और छूने के ज्ञान की पाँच प्रत्यक्ष वृत्तियाँ हैं। जो ज्ञान इन पाँचों प्रत्यक्ष प्रमाणों से नहीं हो सकता, उसका मन-बुद्धि द्वारा अनुमान किया जाता है। जिस बात का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से नहीं होता, वह अनुभवी मनुष्यों अथवा शास्त्रों के वाक्यों से होता है। इसको आगम प्रमाण कहते हैं।

2. **विपर्यय**- दूसरे प्रकार की वृत्ति है जिसका स्वरूप अतद्रूप मिथ्या ज्ञान हैं, - जैसे रस्सी में सर्प का भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान।

3. **विकल्प**- तीसरे प्रकार की वृत्ति है जिसमें केवल शाब्दिक ज्ञान

तो होता है, परन्तु तदनुसार किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। जैसे, – 'आत्मा की चेतना शक्ति'– कहने से मात्र शब्दों का ही ज्ञान होता है। वास्तव में आत्मा से भिन्न कोई चेतन शक्ति है ही नहीं, दोनों एक ही है परन्तु शब्दों से दोनों के अलग-अलग होने का ज्ञान होना विकल्प मात्र है।

4. निद्रा– सुषुप्ति की अवस्था भी चित्त की एक प्रकार की वृत्ति ही है जिसमें सब आलम्बनों का अभाव हो जाता है।

5. स्मृति– पूर्वकाल में सुने और अनुभव किये हुए विषयों का याद आना स्मृति है।

उपरोक्त पाँच प्रकार की वृत्तियों के अन्तर्गत जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाएँ हैं। स्वप्न में स्मृति की वृत्ति के अधीन, तमोगुण से ढकी हुई इन्द्रियों, मन और बुद्धि के संस्कार काम करने लगते हैं।

चित्त को एक जलाशय के सदृश्य मान लिया जाये जिसमें आकाश, बादल, वृक्ष इत्यादि का प्रतिबिम्ब दीख रहा है। इन प्रतिबिम्बों के रहते हुए तो जलाशय की तली नहीं दिखती, परन्तु प्रतिबिम्बों के हटने पर तली दीखने लगती है अथवा जल में लहरें उठने पर तली का प्रकाश नहीं दीख सकता और लहरों के शान्त होने पर वह दीखने लगता है। ठीक इसी तरह तली रूपी आत्मा वृत्तियों के कारण नहीं जान पड़ता। वृत्तियाँ शान्त हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार होता है। चित्त रूपी जल में वाह्य विषयों के प्रतिबिम्ब सदा पड़ते रहते हैं अथवा स्मृति के द्वारा संकल्प-विकल्प रूपी तरंगे उठा करती है अथवा निद्रा के तमोगुण रूपी मिश्रण से वह गदला जाता है, इसलिए आत्म-स्थिति नहीं होने पाती। जब पाँचों प्रकार की वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है, तब आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होती है, अन्यथा नहीं।

आत्मदर्शन होने से वृत्तिजन ज्ञान का मिथ्यापन एवं आत्मज्ञान की सत्यता चित्त पर चमकने लगती है और जगत् के बन्धन का मिथ्या विपर्यय ज्ञान निवृत्त हो जाता है, –जैसे रस्सी का ज्ञान होने के पश्चात् उसमें से साँप की भ्रान्ति दूर हो जाया करती है।

'उपरोक्त वृत्तियों के निरोध में शक्तिपात किस प्रकार सहायक होता है?' –यह प्रथम सूत्रों में बताया जा चुका है। अब नीचे यह दिखाया जायेगा कि वृत्तियों का निरोध प्राणों के वश में होने पर सुगमतापूर्वक हो जाता है। 'वृत्तियाँ प्राण के अधीन है', इसका क्या प्रमाण है? इस पर कहते हैं–

13. प्राणस्येदं वशे सर्वमिति श्रुतेः।

यह सब प्राण के वश में है, श्रुति का प्रमाण है।

ऊँ प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।

यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्तसर्वं प्रतिष्ठितम् ।।

'अथर्व वेद, प्राण सूक्त मं0 1

प्राण को नमस्कार है, जिसके वश में है यह सब, जो हुआ है। सबका ईश्वर, जिसमें सब कुछ प्रतिष्ठित है।'

ऊँयाते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रेया चक्षूषि,
या च मनसि सतता शिवां तां कुरूमोत्क्रमीः।
प्राणस्येदं वशे सर्व त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्,
मातेव पुत्रान रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहिनः ।।

–प्रश्नोपनिषत् द्वितीय प्रश्न 12, 13

जो तेरी तनू (स्वरूप) वाणी में प्रतिष्ठित है, तो श्रोत्र में, जो चक्षु में और जो मन में फैली हुई है, उसको तू हमारे लिए कल्याणस्वरूप रख, –उत्क्रमण मत कर। इस लोक में यह सब प्राण के वश में है और जो कुछ तीसरे लोक (स्वर्ग) में प्रतिष्ठित है (वह भी)। तू पुत्रों की माता के सदृश्य हमारी रक्षा कर हमको श्री (तेज) और प्रज्ञा दे।'

14. उभयोः परस्परं निरोधः।

प्राण और चित्तवृत्ति दोनों का परस्पर निरोध होता है। प्राण के निरोध से वृत्ति-निरोध और वृत्ति-निरोध से प्राण-निरोध होता है और इसी प्रकार से दोनों का निरोध बढ़ता जाता है। पहले प्राण का निरोध करना चाहिए क्योंकि स्वतंत्र रूप से वृत्ति-निरोध दुःसाध्य है।

15. महान् किं? विशेषत्वाच्छक्त्युद्बोधने तत्सिद्धेः ॥

महान् क्यों है? विशेषता के कारण, -शक्ति के उद्बोधन से उसकी सिद्धि होने सें

दसवें सूत्र में योग के पहले 'महान्' विशेषण का प्रयोग क्यों किया गया है? क्या महायोग व्यासजी अथवा पतंजलि भगवान् के योग से भिन्न कोई अन्य योग है? इस शंका का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है कि योग तो चित्त-वृत्ति-निरोधरूप वही है, दूसरा नहीं हो सकता। परन्तु 'महान' विशेषण का प्रयोग करने का अभिप्राय यह है कि उसकी सिद्धि शक्ति के जागने से तुरन्त होती है, अन्यथा तो श्रद्धा, वीर्य सहित यत्नपूर्वक दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक अभ्यास करने पर ही वृत्ति-निरोध की उपलब्धि कही गयी है। इसीलिए जो योग परिश्रम-साध्य है, वही गुरू-कृपा से शीघ्र प्राप्त होता है।

पातंजल दर्शन में दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्रोक्त क्रिया योग से महायोग का ही अभिप्राय है। महायोग को सिद्ध योग या क्रिया-शक्ति-योग भी कहते हैं।

16. हठ मंत्र लयराजयोगान्तर्भूमिकत्वाच्च श्रुतेः।

और हठ योग, मंत्रयोग, लययोग, राजयोग का अन्तर्भूमिकत्व होने के कारण भी 'महान्' कहा गया है, श्रुति का प्रमाण है। शक्ति जागने के पश्चात् अर्न्तभूमिका रूप से हठादि चारों योगों का उत्तरोत्तर स्वतः सिद्ध विकास होता है, यह भी विशेषता है। इसमें नीचे दी गयी श्रुति का प्रमाण है-

मन्त्रो लयो हठोराजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात ।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ॥

–योग शिखोपनिषत्, 130

'मंत्र, लय, हठ, राजयोग क्रम से अन्तर्भूमिकाएँ हैं, इसलिए वह एक ही योग चतुर्धा होने से महायोग कहलाता है'।

17. आसन प्राणायाम बन्धमुद्रादयो हठः ।

आसन, प्राणायाम, बन्धु, मुद्रादि हठ योग है।

यहाँ पर प्राणायाम से श्वास की पूरक, रेचक, कुम्भक क्रियाएँ ली गयी है। बन्ध और मुद्राएँ बहुत हैं, उनमें 10 प्रधान है- मूल बंध, उड्यान बन्ध, जालन्धर बन्ध, महाबन्ध, महावेध, महामुद्रा, विपरीतकरणी, बजौली, खेचरी और शक्ति-चालन। आसन प्रत्येक योनि के आधार पर 84 लाख कहे हैं, परन्तु 84 मुख्य हैं। पातंजल दर्शन के अनुसार 'स्थिरं सुखं आसनम्' कहा गया है, परन्तु सांख्य ने यह नियम भी नहीं माना कि स्थिरता और सुख से ही स्थिति हो। शक्ति जागकर क्रियावती होती है, तब किसी-किसी को तो नाना प्रकार के आसन, कुम्भक और मुद्राएँ देखने में आती हैं।

18. ततो नाड़ी शुद्धिः

उससे नाड़ी-शुद्धि होती है।

नाड़ियों से वातःनाड़ियों या स्नायुओं का अभिप्राय है। नाड़ियाँ प्राण शक्ति के प्रवाह के लिए उसी प्रकार कार्य करती है जैसे बिजली के प्रवाह के लिए तार। साधारण मनुष्यों की नाड़ियाँ मलाकुल होती हैं और उनमें प्राण का प्रवाह सुगम नहीं होता। हठ योग की क्रियाएँ उनके मल को निकाल देती है।

19. स्वाध्यायेश्वरप्रणिधाने मन्त्रयोगः ।

स्वाध्याय और ईश्वर- प्राणिधान मंत्रयोग है।

पातंजल दर्शन में प्रणव के जप और उनके अर्थ की भावना को स्वाध्याय कहा है। स्वाध्याय में मोक्षप्रद मंत्रों का जप और शास्त्रों का श्रवण, पठन, मनन भी लिया गया है। स्वाध्याय से योग की सिद्धि

होती है जैसा कि वेदव्यास जी ने कहा है–

स्वाध्यायद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पतया परमात्मा प्रकाशते ॥

'स्वाध्याय से योग प्राप्त होता है योग से स्वाध्याय का मनन करे स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होते हैं। ईश्वर-प्राणिधान का अर्थ ईश्वर-समर्पण और ईश्वर-शरणागति है।

'प्राणिधान्' की व्युत्पत्ति 'प्र' और 'नि' उपसर्गों से युक्त धा' (धारण करने) धातु से अर्थात् ईश्वर को अपने अन्तः में पूर्ण निश्चय सहित धारण करना चाहिए। योगदर्शन का ईश्वर गुरूरूप से प्रत्येक मनुष्य के साथ विद्यमान् है जो क्लेश-कर्म-विपाकाशयों से अस्पृष्ट, बन्धन में पड़े जीव की अपेक्षा से विशेष पुरूष कहा गया है। जिसमें सर्वज्ञता का बीज निहित है। महायोग द्वारा उस बीज ज्ञान को पूर्णता तक पहुँचाया जा सकता है जिसकी अनुभूति को ही वास्तविक ईश्वर-प्राणिधान समझना चाहिए।

20. ततः समाधि सिद्धिः ।

उससे समाधि की सिद्धि होती है।

समाधि सिद्धिरीश्वरप्राणिधानात् ।

–योग दर्शन

21. चित्ते लीने लयः

चित्त के लीन होने पर लय योग कहलाता है।

22. प्राणास्यैर्यात्तदुपलब्धि ।

प्राण शक्ति के स्थिर होने पर लय योग की प्राप्ति होती है।

23. षट्चक्र वेधात् ।

छः चक्रों का वेध होने के कारण ।

24. आधार- स्वाधिष्ठान
मणिपूरनाहत-
विशुद्धा - ज्ञाभिधानि चक्राणि।

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, चक्रों के नाम हैं।

25. पायूपस्थनाभिहृद्कंठ भ्रूमध्योषु तत्स्थानानि ।

(क्रमशः) गुदा, उपस्थ, नाभि, हृदय, कण्ठ, भ्रूमध्य देश में उनके स्थान हैं।

26. तत्तु सुषुम्नाऽधिकृतानि ।

परन्तु चक्रों के ये स्थान सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर है। चक्र सुषुम्ना के अन्दर वे स्थान हैं जहाँ पर नाड़ियों के केन्द्र है। कण्ठ से निकलने वाली नाड़ियाँ–ग्रीवा और हाथों में फैलती है। पृष्ठ भाग से निकलने वाली पीठ और पसलियों में फैलती है। हृदय का सम्बन्ध आज्ञा चक्र से सीधा भी है। कटि पर्व की नाड़ियाँ उदर, कमर और पैरों में अँगूठों तक चली गयी है। उपस्थ विभाग की मूत्राशय, वीर्याशय आदि में गयी है। गुदा और उपस्थ की मिलकर कुछ सींवनी, गुदा, मलाशय इत्यादि में फैलती है 'आज्ञा चक्र' मस्तिष्क और सुषुम्ना के चित्रा विभाग की शिराओं तथा पंचज्ञानेन्द्रियों की नाड़ियों का केन्द्र है। सहस्रार से सारे शरीर की नाड़ियों का सम्बन्ध इसी प्रकार है जैसे हैड–ऑफिस से शाखाओं का होता है।

27. मनोलयस्त्वाज्ञायाम् ।

आज्ञा चक्र में प्राण पहुँचने पर मन का लय होता है।

28. संकल्पविकल्पाऽभावश्च ।

संकल्प और विकल्प का अभाव होता है।

29. एकाग्रता च मनसः ।

और मन की एकाग्रता होती है। अर्थात् किसी ध्येय संकल्प पर भी एकाग्रता हो सकती है और संकल्प- विकल्प–शून्य एकाग्रता भी होती है।

30. तदुपरि राजयोगः सहस्रारे ।

उसके ऊपर राजयोग होता है, सहस्रार में।

आज्ञां चक्र के ऊपर साहस्त्रार में प्राण जाने से राज योग होता है।

31. तत्र ब्रह्मणि शक्तिर्लयान्निर्बीजसमाधिः प्राणलयो मनोलयश्च ।

वहाँ पर अर्थात् सहस्त्रार में शक्ति के ब्रह्म में लय हो जाने से निर्बीज समाधि होती है। एवं प्राण और मन दोनों का लय हो जाता है।

32. ततः द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

तब द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति होती है।

यह पातंजल दर्शन के प्रथम पाद का तीसरा सूत्र है और योग की स्थिति का वर्णन करता है। जब तक द्रष्टा की अपने स्वरूप अर्थात् परब्रह्म में स्थिति नहीं होती, तब तक वृत्तियों की सारूप्यता न्यूनाधिक बनी ही रहती है। कठ वल्ली की नीचे दी हुई श्रुति भी इसी पद की प्राप्ति का उपदेश कर रही है–

यच्छेद् वाङ्.मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानामत्मनि महति नियच्छेतद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

–वल्ली 3, अ0 मन्त्र 13

'बुद्धिमान् मनुष्य वाक् आदि इन्द्रियों को मन में लय करें, मन को बुद्धि में, बुद्धि को प्रथमज महत्तत्व में लीन कर दें और महतत्व का शान्त आत्मा (ब्रह्म) में लय कर दें।'

शक्तिपात–क्रम में उक्त प्रक्रिया की सिद्धि सुषुम्नागत प्राणोत्थान द्वारा की जाती है।

द्वितीय पाद

1. तदर्थंगुरूमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रुतेः।

उसके लिए गुरू के ही पास समित्पाणि जावे, ऐसा श्रुति का उपदेश है।

ब्रह्मज्ञान को देने वाली शक्ति के उद्बोधनार्थ गुरू के पास ही जावे। बिना गुरू के उसकी प्राप्ति नहीं होती जैसा कि श्रुति का उपदेश है–

परीक्ष्य लोकान्कम चितान्ब्राह्मणो,
निर्वेदमांयान्नास्त्य कृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थंस गुरू मेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

–मुण्डक 1, काण्ड 2, श्रुति 12

–'कर्मकाण्ड द्वारा प्राप्त होने वाले लोकों की परीक्षा करके ब्रह्मण वैराग्य ग्रहण करें, क्योंकि कर्म द्वारा मोक्ष नहीं मिलता। उसे पाने के लिए हाथ में समिधा लेकर ऐसे ही गुरू के पास जावे जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो।'

ब्रह्म–विद्या की प्राप्ति के लिए विषयों से उदासीन होकर गुरू के पास जाने का उपदेश किया गया है। पूर्वकाल में सब ऋषि यज्ञ किया करते थे, इसलिए शिष्य दीक्षार्थ हाथ में समिधा लेकर गुरू के पास जाता था। आजकल यज्ञादि करने की प्रणाली न रहने से पत्र,

पुष्प, फलादि ले जाने चाहिए खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। समित्पाणि कहने का अर्थ यह नहीं है कि उस काल में समिधा के अतिरिक्त फल, पुष्प न ले जाते होंगे। तब समिधा ही क्यों कहा है? इसके दो कारण प्रतीत होते है प्रथम तो शिष्य अपने अन्दर ज्ञानाग्नि जलाने का अभिलाषी है और अग्नि दो अरणियों से प्रकट होती है। इसलिए समिधा ले जाना उसकी ज्ञानाग्नि प्राप्त करने की इच्छा का द्योतक है। गुरू को उत्तरारणि एवं शिष्य को अधरारणि से उपमा दी जाती है, क्योंकि दोनों से ब्रह्म विद्या रूपी *अग्नि प्रकट होती है और उसका क्रम भावी सन्तानों में चलता है। दूसरा अभिप्राय यह भी दिखता है कि शिष्य गुरू की छोटी-से-छोटी अर्थात् लकड़ी काटकर लाने तक की भी सेवा करने में अपना गौरव समझता है।

2. ब्रह्मनिष्ठो वेधकः शक्तिपातक्षमश्च गुरूः।

गुरू ब्रह्मनिष्ठ, वेध करने वाला और 'शक्तिपात' करने में समर्थ होना चाहिए।

ब्रह्मनिष्ठ- जो यच्चित हो अर्थात् जिसका चित्त एकाग्र अवस्था में रहकर ब्राह्मी स्थिति में रहता हो। ब्राह्मी स्थिति का वर्णन श्री भगवान् ने गीता के द्वितीय अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ अथवा

---

* कुण्डलिनी शक्ति को भी अग्निरूपा कहा जाता है। ज्ञान एवं योग को भी अग्नि कहते हैं, यथा

'ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरूतेऽर्जुन ।' -गीता

'न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।'

-श्वेताश्वतरोपरिनषद् अध्याय 2

शक्तिपात द्वारा गुरू शिष्य की कुण्डलिनी को जगाकर शिष्य में दीपकवत् योगाग्नि प्रदीप्त करता है, इसी कारण कृष्ण भगवान के गुरूवर का नाम संदीपन ऋषि था।

समाधिस्थ की व्याख्या करते हुए किया है। जो छहों चक्रों का वेध कर सके, वही वेधक कहलाता है।

3. निग्रहानुग्रहक्षमश्च ।

और जो निग्रह, अनुग्रह दोनों मे समर्थ हों।

'शक्तिपात' करने को अनुग्रह और रोक देने को निग्रह कहते हैं। निग्रह से शिष्य के वेग को कम किया जा सकता है। गुरू के लिए अनुग्रह करने का सामर्थ्य जितना आवश्यक है, उतना ही निग्रह करने का भी है क्योंकि कभी-कभी अधिक वेग हो जाने पर उसको कम करने की भी जरूरत पड़ जाती है। ऐसा ही गुरू शिष्यों के वेग को संयम में रख सकता है।

4. परीक्ष्य दीक्षयेत् ।

गुरू शिष्य की परीक्षा करके दीक्षा देंवे।

यदि, अयोग्य हो तो दीक्षा न दे, उसको योग्य बनने के लिए समय दें। समय पाकर पका हुआ फल अच्छा होता है, इसलिए शीघ्रता करना उचित नहीं है।

5. शक्तिपात एवं दीक्षा

शक्तिपात करना ही दीक्षा देना है।

शक्ति का प्रवाह एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तक दो प्रकार से होता है, 'स्पर्श द्वारा और बिना स्पर्श के। आगे चलकर बताया जायेगा कि शरीर के भीतर शक्ति का प्रवाह नाड़ियों के आश्रय से होता है। परन्तु जब वह शरीर के बाहर भी संक्रमित होता है तब उसकी गति किस तत्व के आश्रय होती है? वह अग्नि-ताप के सदृश चारों ओर फैलती है अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान को धारा रूप में जाती है? क्या उसकी गति का अनुभव हो सकता है? यदि होता है, तो उसका स्वरूप क्या है? इत्यादि अनेक प्रश्न यहाँ पर उत्पन्न होते हैं जो एक स्वतन्त्र विज्ञान का विषय है। इस विषय का, आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति पर अन्वेषणों के अभाव के कारण, स्वतः विवेचन करना तो

असम्भवप्राय: ही है, परन्तु साधन करने वाले कुछ महानुभावों के अनुभवों और अनुमानों के आधार पर उक्त प्रश्नों पर थोड़ा प्रकाश डालने की चेष्टा की जाती है।

यह बात तो अनुभूत है कि शक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रवाहित होती है और मनुष्य के शरीर अथवा प्रश्वास से चारों ओर इस प्रकार फैलती है जैसे तप्त गोले से उष्णता। यह भी प्रतीत होता है कि उसकी गति का मार्ग (Medium) वायु नहीं है। सम्भव है कि आकाश तत्व (Ether) अथवा उससे भी सूक्ष्म अन्य कोई तत्व हो। हम उसे 'समष्टि- प्राण-मण्डल' कहते हैं। सांख्य की परिभाषानुसार सम्भवत: उसको मनस्सत्ता, मनस्तत्व (Mind Stuff) अथवा महत्तत्व भी कह सकते हैं। कभी-कभी शक्ति की गति गोली की तरह सीधी भी होती है। किसी-किसी की शक्ति का अस्तित्व स्पर्शेन्द्रिय द्वारा होता देखा जाता है, परन्तु सूक्ष्म विषय होने के कारण अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में वह अनुभवगम्य नहीं होता। किसी-किसी अभ्यासी को विद्युतप्रकाशवत् दृष्टिगोचर होता हुआ भी देखा गया है। यह प्रकाश नाड़ियों के अन्दर और शरीर के बाहर भी गतिमान् दीख पड़ता है।

अभ्यास करने वालों का यह भी अनुभव है कि उक्त शक्ति बाहर बादल, अग्नि, विद्युत सूर्यादि अथवा केवल वायु, आकाश या अन्य किसी भी स्थान से संकल्प द्वारा अपने शरीर में खींची जा सकती है। इसलिए उनका कहना है कि परमात्मा की शक्ति सब पदार्थों में भरपूर है। अन्दर की शक्ति जागने के पश्चात् योगी अपने संकल्प से उसको खींच सकता है। उक्त प्रकार से खींची हुई शक्ति शरीर में प्रवेश करके चेतनवत् ही व्यवहार करती है, इसलिए वह विद्युदादि शक्तियों से भिन्न और उत्तम है।

जब शक्ति योगी की इच्छा से बाहर जाती है तो पृथ्वी पर देश-देशान्तर में कहीं भी भेजी जा सकती है। (Telepathy) आदि

उक्त शक्ति के ही कार्य है।

अनुमान से कहा जा सकता है कि सम्भव है कि इस आध्यात्मिक शक्ति से विद्युदादि आधिभौतिक शक्तियाँ भी उत्पन्न की जा सके।

आध्यात्मिक शक्ति का विचार तीन दृष्टिकोणों से किया जा सकता है :-

1. अपने आध्यात्मिक लाभार्थ ।
2. दूसरों के आध्यात्मिक लाभार्थ।
3. आधिभौतिक जगत् में भौतिक सिद्धियों के लिए प्रयोगार्थ, जिस रीति से कि उसका भौतिक शक्तियों से सम्बन्ध मालूम हो सके।

यहाँ पर उपरोक्त प्रथम दो दृष्टिकोणों से इस विषय पर किंचित प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

6. ततः शक्ति प्रदीपन दीपवत्।

उससे शक्ति का प्रदीपन होता है, दीपक के सदृश्य। जैसे एक प्रज्जवलित दीपक की शिखा से दूसरा दीपक जलाया जाता है, उसी प्रकार गुरू की शक्ति के शिष्य पर गरिने से उसकी शक्ति जाग उठती है।

7. ततः दिव्यज्ञानं सम्पद्यते क्षीयते च बन्धनम्।

उससे दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है और बन्धन का क्षय होता है।

8. दीप्ते ज्ञानाग्नौ मलविक्षेपाऽवरणहानिः।

ज्ञानाग्नि के प्रज्जवलित होने पर मल, विक्षेप और आवरण की हानि होती है, मल पापों को, विक्षेप चित्त की चंचलता को और आवरण अज्ञान के पर्दे को कहते हैं।

9. गुरूगृहे निवसेत्तिस्त्रो रात्रिः।

गुरू के घर पर तीन रात्रि निवास करें। यहाँ रात्रि शब्द का प्रयोग किया जाता है, न कि दिन का। इसका अभिप्राय यह है कि

साधनकाल सूर्यास्त के पश्चात् और सूर्योदय से पूर्व ब्राह्म मुहुर्त का ही श्रेष्ठ होता है। दिन में कुण्डलिनी का उद्बोधन निषिद्ध है।

10. तोषयेच्च भोजनवस्त्रदक्षिणाभिः प्रणिपातेन सेवया च।

और गुरू को भोजन, वस्त्र, दक्षिणा देकर, प्रणाम तथा सेवा करके सन्तुष्ट करे। श्री भगवान् ने गीता में कहा है -

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्तवदर्शिनः।।

-'उस (ज्ञान) को प्रणाम करके, प्रश्न करके और सेवा करके जानो। ज्ञान का उपदेश तुमको तत्वदर्शी ज्ञानी देंगे।

यहाँ पर शंका हो सकती है कि वीतरागविषय गुरूओं को सन्तुष्ट करने का क्या अभिप्राय है? वे तो सदा सब से ही सन्तुष्ट रहते हैं। शरीरधारी गुरू को वस्त्र, भोजन, धनादि की आवश्यकता तो होती ही है। उनके वीत-राग होने का अर्थ यही है कि वे विषयों में आसक्ति नहीं रखते और किसी से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी यथासम्भव याचना अथवा आज्ञा नहीं करते। परन्तु शिष्यों का तो धर्म ही है कि अपने अनुमान से उनकी आवश्यकताओं को जानकर, बिना कहे, यथाशक्ति पूरा करें। इससे वे गुरू का सन्तोष प्राप्त करेंगे।।

11. दीक्षा त्रिविधा।

दीक्षा तीन प्रकार की है, - आणवी, शाक्ती और शाम्भवी।

12. दर्शनाद् भाषणात्स्पर्शाच्च।

दृष्टि के द्वारा, भाषण द्वारा और स्पर्श से।

साधारणतः शक्तिपात तीन प्रकार से किया जाता है- (1) दृष्टि से (2) मन्त्रादि देकर, और (3) हाथ से छूकर। इन तीनों क्रियाओं से शक्तिपात करने वाले की इच्छा होने पर ही शक्ति-संचार होता है इच्छा न होने पर नहीं होता। इसलिए इच्छा से ही शक्तिपात होता है, स्पर्शादि तो बाह्य साधन है।

13. मानस्यपीति केचित्।

दीक्षा मानसिकी भी होती है, इसलिए कुछ लोग शक्तिपात को चार प्रकार का मानते हैं।

जैसा पहले कह सकते हैं कि बिना इच्छा के तो स्पर्श, अवलोकन और भाषण से भी दीक्षा नहीं होती, तब चौथी मानसी कहने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि मानसी दीक्षा ऐसी अवस्था में दी जाती है जबकि गुरू-शिष्य का किसी कारण से एक स्थान पर समागम न हो सकता हो। जैसे, दोनों दूरस्थ देशों में हो और शिष्य गुरू के समीप न आ सकता हो अथवा किसी कारण से गुरू शिष्य की अपने सन्मुख उपस्थिति की आवश्यकता न समझता हो, तो गुरू के संकल्प से दूरस्थ शिष्य पर शक्तिपात हो सकता है।

14. सा पुनरप्यधिकारी भेदतस्त्रिधा।

वह दीक्षा अधिकारी-भेद से फिर तीन प्रकार की है।

15. मृदुमध्यतोव्रत्वात् पिपीलिकाकपिखगन्यायवत्।

मृदु मध्य और तीव्र होने के कारण चींटी, बंदर और पक्षी के न्याय के सदृश्य।

अधिकारी के भेद से किसी में हल्का वेग आता है, किसी में मध्यम और किसी में तीव्र। किसी-किसी को पूर्ण विकास होने में एक, दो, तीन दिन या और अधिक समय भी लग जाता है। किसी को प्रथम बार में ही विकास हो जाता है। परन्तु धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा और किसी को उसी क्षण स्पर्श, अवलोकन अथवा मंत्र प्राप्त होते ही वेग से विकास हो जाता है। जैसे वृक्ष पर लगे हुए फल तक चींटी धीरे-धीरे पहुँचती है, कपि एक शाखा से दूसरी शाखा तक कूदता-फाँदता हुआ पहुँचता है और पक्षी उड़कर सीधा उस पर जा बैठता है।

16. **सा क्रियावती, कलावती, वर्णमयी वेधमयीतिब्रह्मा।**

ब्रह्माजी ने कहा है कि दीक्षा क्रियावती, कलावती, वर्णमयी और वेधमयी होती है। क्रियावती इसलिए कहलाती है कि उस में नाना प्रकार की क्रियाएँ होती है। कलावती इसलिए कि उससे तत्व-शुद्धि होती है। 36 तत्वों को 5 कलाओं में बाँटा गया है। 36 तत्वों के नाम इस प्रकार है:-

शिव, शक्ति, सदा शिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, काल, कला, नियति, विद्या, राग, पुरूष, प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, मन, 5. ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ, 5 तन्मात्राएँ और 5 महाभूत। इनमें प्रथम दो तत्व शान्त्यातीता कला के, अगले 3 तत्व शान्ति कला, 7 तत्व माया कला, 23 तत्व प्रतिष्ठा और अन्तिम पृथ्वी तत्व निवृत्ति कला के अंग माने जाते है।

सारा विश्व नाम-रूपात्मक दृश्य है। कलावती का सम्बन्ध रूपात्मक कलाओं से और वर्णमयी का सम्बन्ध वर्णात्मक नाम अर्थात् शब्दमयी सृष्टि से समझना चाहिए। वर्णमयी में वर्ण, पद, मन्त्र, कविता दत्यादि की शक्ति उदय हो जाती है। वेधमयी इसलिए कहलाती है क्योंकि उससे षट्चक्रों का वेध होता है। उक्त चारों रूप तो किसी-किसी में ही प्रकाशित होते है। प्रायः किसी में एक, किसी में दो अथवा तीन ही प्रकाशित होते हैं।

अकार से हकार तक और क्ष, ल सहित 51 वर्ण है। लिंग, पुरूष, वचन और काल प्रत्येक के त्रिधा होने से पद 3X3X3X3=81 प्रकार के होते हैं। दस इन्द्रियों और ग्यारहवें मन के विषयों से सम्बन्धित होने के कारण मंत्र अर्थात् वाक्य 11 प्रकार के होते हैं।

17. **शिवादेशकारिणीति शाम्भवी।**

शिवजी के आदेश कराने वाली शाम्भवी कहलाती है। श्रवण द्वारा, वचन द्वारा, लिखकर अथवा विचारों में स्पष्ट रूप से शिवजी के

आदेश आने लगें तो समझना चाहिए कि दीक्षा शाम्भवी है। शिवावेश के कारण ही शाम्भवी कही जाती है।

18. योगोक्तक्रमतो योगदीक्षा।

योग में कहे हुए क्रम से दी हुई दीक्षा योग-दीक्षा है। इसमें योग की क्रियाएँ प्रधान रूप से होती है। अन्य साधन गौण रूप से होते हैं।

19. सैव शाक्तेय शक्ति ज्ञानवती वा।

वही शाक्तेयी, शाक्ती अथवा ज्ञानवती दीक्षा भी कहलाती है।

ज्ञानवती कहने के बजाय कोई-कोई ज्ञान-दीक्षा भी कहते हैं, क्योंकि शक्ति ही ज्ञान है। शब्दिक उपदेश वास्तव में ज्ञानोपदेश नही है। शक्ति द्वारा ज्ञान का जो प्रकाश शिष्य में स्वयं उदित होता है, वही यथार्थ में ज्ञान का उपदेश करता है। यह शाम्भवी से नीचे स्तर की दीक्षा है, क्योंकि इसमें शक्ति का आवेश मात्र होता है।

20. मन्त्रमार्गानुसारेण मान्त्री।

मन्त्र-शास्त्र के अनुसार दी गयी मान्त्री कहलाती है। जिन मंत्रों से शक्ति-जागरण होता है, वे मन्त्र चेतन होते हैं।

21. मन्त्रार्चनाद्युपचारैराणवी

अर्चन आदि उपचारों की सहायता से क्रमशः उन्नति, कराने वाली दीक्षा आणवी कहलाती है। शक्ति का उद्बोधन न होने से यत्नसाध्य जपानुष्ठादि आणवोपाय के ही अंग है।

22. षट्चक्र वेधाद्वेधमयी।

षट्चक्रों का वेध होने के कारण दीक्षा वेधमयी कहलाती है।

23. वेदान्त योग भक्ति सम्प्रदाय भेदतोऽपि बहुविधा।

वेदान्त, योग, भक्ति आदि सम्प्रदायों के भेद से भी बहुत प्रकार की दीक्षा होती है।

24. सा एकैव शक्तिमत्वात्।

वह बहुत प्रकार की होती हुए भी एक ही है, शक्ति का प्रबोध होने के कारण।

ब्रह्म की शक्ति तो एक ही है, इसलिए सबका फल मोक्ष ही है, यद्यपि उसका विकास नाना प्रकार से देखा और सुना जाता है।

25. वीतरागचित्तवलम्बनात्।

वीतराग चित्त का अवलम्बन होने के कारण शक्तिपात दीक्षा होती है।

26. सिद्धसंकल्पाद्वा ।

अथवा सिद्ध संकल्प होने से

वीतराग होने से योगी सिद्ध-संकल्प हो जाता है, इसलिए 'वा' का प्रयोग किया जाता हे। 'गुरू की शक्ति शिष्य में जाकर उसकी आध्यात्मिक जागृति किस कारण से करती है? उसकी वृत्तियाँ शीघ्र निरूद्ध कैसे होने लगती है?' इत्यादि शंकाओं का समाधान इन दो सूत्रों से किया गया है। प्रथम सूत्र के भाष्य में बताया जा चुका है कि वीतराग योगियों के चित्त का आलम्बन लेकर शक्तिपात द्वारा शक्ति-संचार होने से शिष्यों को शीघ्र एकाग्रता का लाभ होता है। पातंजल दर्शन के 'वीतराग विषयं वा चित्तम्' सूत्र का अर्थ साधारण लोग तर्क और अनुमान के आधार पर किया करते हैं, परन्तु अच्छी तरह समझ नहीं सकते। वेदव्यास जी ने अपने भाष्य में वीतराग महात्माओं का ध्यान नहीं कहा, वरन् यह कहा है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध वीतराग-चित्त के आलम्बन अर्थात् आश्रय से होता है। शक्तिपात दीक्षा में शक्ति का संचार गुरू के संकल्प का आश्रय लेकर होता है और उस शक्ति से शिष्य को वीतराग-चित्त का आलम्बन मिलता है। शक्तिपात दीक्षा ग्रहण करने वालों को इसका अनुभव होने से उनकी समझ में उक्त सिद्धान्त सुगमता से आ सकता है।

चित्त और शक्ति का कितना घनिष्ट सम्बन्ध है, यह श्रुतियों में स्थान-स्थान पर प्रतिपादित है।

27. श्रुतेः

श्रुति का प्रमाण है। यथा-

तेजो ह वै उदानस्तस्मादुपषांततेजाः
पुनर्भव मिंद्रियैर्मनसि सम्पद्यमानौ।
यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसायुक्तः
सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति।

-प्रश्न 3, मन्त्र 9, 10

-'तेज' ही निश्चय से उदान है, इसलिए जिसका तेज उप-शान्त हो गया है, उस तेज को पुनः करने के लिए इन्द्रियों को मन में अच्छी प्रकार ले जाकर जिसने अपना चित्त एकाग्र कर लिया है, उसमें एकाग्र चित्त के द्वारा प्राण आ जाता है और प्राण तेज से युक्त होकर आत्मा के सहित मनुष्य को, वह जैसा संकल्प करता है, उसी लोक को ले जाता है अर्थात् उसी पकार की सिद्धि देता है।

उपरोक्त श्रुतियों में 'उपशान्त तेजाः' का अर्थ यदि मृत्यु लिया जाय तो जैसा शंकराचार्य महाराज ने कहा है, जन्मानतर में प्राण इस जन्म के संकल्पित लोक को ले जाता है। परन्तु जो क्रिया मृत्यु के समय प्रकृति के वश में होती है। वही क्रिया योगी अपनी इच्छा से जीवनकाल में करता रहता है अर्थात् इन्द्रियों का मन लय करता है मन को बुद्धि में, फिर बुद्धि को आत्मा में और आत्मा सहित, सुषुम्ना मार्ग से धारणा, ध्यान, समाधि कर के, सहित, सुषुम्ना मार्ग से धारणा, ध्यान, समाधि कर के, यथासंकल्पित सिद्धि को प्राप्त करता है। जीवनकाल में 'उपशान्त तेजाः' का अर्थ ऐसे मनुष्यों के लिए किया जा सकता है जो ब्रह्मतेज से क्षीण हो गये है। उनके लिए उस तेज के पुनर्भव अर्थात् फिर उत्पन्न करने का साधन योग-मार्ग द्वारा इन्द्रियों का प्रत्याहार कर के चित्त की उकाग्रता करना है।

संयच्चित होने से मनुष्य में प्राण शक्ति आती है, यह बात उपरोक्त श्रुति में बतायी गयी है और सब के अनुभव की भी बात है।

इसी प्रश्न की आठवीं श्रुति में आदित्य को ब्राह्म प्राण बताया है जिसका सम्बन्ध चाक्षुष प्राण से है। पृथ्वी की देवता रूप शक्ति ब्राह्म अपान है, आकाश समान, वायु व्यान और अग्नि उदान है। निरूद्ध चित्त वाले मनुष्य को उपरोक्त पाँचो प्रकार की शक्तियाँ विश्व-भण्डार से मिलने लगती है। जैसा कि हमने इसी पाद के 5वें सूत्र में कहा है कि योगी वायु, आकाश, सूर्य, अग्नि इन सभी से शक्ति को खींचने लगता है।

प्राण शक्ति का आवाहन करने का उपाय यच्चित्तता ही है। चित्त के निरोध से प्राण शक्ति को उदान रूपी तेज से युक्त करके योगी तेजोमय बनता है और उसी प्राण शक्ति को चाक्षुष प्राण की सहायतस से दृष्टि द्वारा अथवा अग्नि स्वरूप समान शक्ति के आधार से मंत्र द्वारा अथवा वायु रूप व्यान शक्ति के आधार से स्पर्श द्वारा शक्तिपात करके उक्त ब्रह्मतेज (प्राण शक्ति) को दूसरों में भी उत्पन्न कर देता है। योगी के संकल्प के अनुसार शिष्य में उदान 10वीं श्रुति के अन्तर्गत निहित है।

उपरोक्त श्रुतियों में शक्ति-सम्पादन करने का रहस्य स्पष्ट रूप से बताया गया है। जो क्षीण:तेज मनुष्य स्वयं अपनी इन्द्रियों और मन को संयम में नहीं ला सकते, उनमें शक्तिपात द्वारा गुरू की शक्ति के आलम्बन से यह कार्य सम्पादित हो जाता है। शक्तिपात के पश्चात् अपनी शक्ति जाग उठने से, वह स्वयं भी अपनी इन्द्रियों और मन का संयम करने लगता है। प्राण से मनोनिरोध और मनोनिरोध से प्राण शक्ति का संचय उत्तरोत्तर बढ़ने लगता है।

28. स्मृतेश्च

ओर स्मृतियों का भी प्राण है।

पुराणों और तन्त्र-शास्त्रों में इस विज्ञान का रहस्य अधिक विस्तार से मिलता है। यथा-

शक्तिपातसमायोगादृते तत्वानि तत्वतः।

तदव्याप्तिस्तद्विशुद्धिश्च ज्ञातुमेव न शक्यते।।

–शिवपुराण वायवीय संहिता

"शक्तिपात के समायोग के बिना तत्वतः तत्वों का ज्ञान, आत्मा की व्यापकता और उसके शुद्ध–बुद्ध स्वरूप का ज्ञान कदापित नहीं हो सकता।"

29. तत्तुसति धर्माधर्मयोः साम्ये।

परन्तु वह शक्तिपात धर्म और अधर्मः की साम्यावस्था होने पर होता है।

अर्थात् गुरूजन, पापी, मनुष्यों पर शक्तिपात नहीं करते और यदि करना भी चाहें तो पाप की अधिकता होने पर शक्ति का संक्रमण नहीं होता। पाप दग्ध होकर जब पाप–पुण्य की साम्यता आती है, तभी उसका विकास होता है। इसी अभिप्राय से कुष्ट, यक्ष्मा, मिरगी, बवासीर, सुजाक, आतशक जैसे पापी रोगों से पीड़ित मनुष्यों को दीक्षा देने का निषेध है। अन्धे, काने, बहरे, अंगहीन और अकिांगियों की भी गणना इसी कोटि में की गयी है।

30. यस्मिन्नपतति तद्धि न पात्रम्।

जिस मनुष्य में शक्ति नहीं गिरती, वह पात्र नहीं है। परन्तु इस सूत्र का अर्थ यह भी नहीं है कि जिसमें शक्ति जाती है, वह दीक्षा का पात्र है ही। यह भी सम्भावना हो सकती है कि शक्ति जाने पर भी कोई–कोई दीक्षा के योग्य नहीं होते।

31. वर्णानां न नियमः।

वर्णों का नियम नहीं है।

जिसको गुरू स्वीकार कर ले– वही पात्र है, वर्ण्ज्ञ (जाति) का नियम नहीं है। ईसाईं, मुसलमान, यूरोप अथवा अन्य देशों के निवासी, सभी पात्र हो सकते हैं।

32. बालवृद्धस्त्रीपुमान्सः सर्वेऽधिकारिणः।

बालक, वृद्ध, स्त्री और पुरूष सअ अधिकारी है।

33. एकाकी दीक्षितैर्वा सह समभ्यसेत्।

अकेला अथवा दीक्षितों के साथ अभ्यास करें।

34. शुचौ गुप्तदेशे मठे गुहायो वा।

किसी शुद्ध गुप्त देश, बन्द कमरे, मठ अथवा गुफा में अभ्यास करें।

जन-समुदाय में सब के सामने अभ्यास करना निषिद्ध है, क्योंकि ऐसा करने से शक्ति का ह्रास होता है, साधन की उन्नति में बाधा पड़ती है और विघ्नों का भय रहता है।

35. तत्र स्थापयेत् कम्बलासनमजिनासनं वा।

वहाँ पर कम्बल अथवा मृग या व्याघ्रादि के चर्म का आसन बिछावे। चटाई अथवा बिना आसन के भूमि, पत्थर या लकड़ी के आसन पर अभ्यास न करे।

तृतीय पाद

1. कोषेषु मद्विकासः।

2. अन्नप्राणामनोविज्ञानानन्दमयाः श्रुतेः।

कोषों में उसका विकास होता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष है। श्रुति के अनुसार कोष पाँच है। तैत्तिरीय उपनिषद् में पाँच कोषों का वर्णन मिलता है। उनमें से प्रथम चार तो कोष ही समझने चाहिए, परन्तु अन्तिम आनन्दमय तो स्वयं आत्मानंद का ही रूप है।

तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिण पक्षः,
प्रमोदः उत्तर पक्षः, आनन्द आत्मा,
ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।

–'उस (आनन्दमय कोष) का सिर प्रियता है, दक्षिण पक्ष मोद, उत्तर पक्ष प्रमोद, आत्मा आनन्द और ब्रह्म उसकी पूँछ–प्रतिष्ठा है। इसलिए शक्ति का विकास प्रथम चार में तो प्रत्यक्ष प्रतीत होता ही है, परन्तु आनन्दमय में आनन्द के विकास का अर्थ विकल्प मात्र ही है उसका अर्थ यही समझना चाहिए कि आनन्द का अनुभव होना ही आनन्दमय परमात्मा का साक्षात्कार है और यही आनन्दमय का विकास है–

'सवा एष पुरूषोऽन्नरसमयः, तस्माद्वा
एतस्मादन्नरस-मयात् अन्योऽन्तर आत्मा
प्राणमयः, प्राणामयात् अन्योऽन्तर आत्मा
मनोमयः, मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा
विज्ञानमयः, विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानंदमयः।

–तै0 2, 5

उक्त कोषों में शक्ति का विकास किस प्रकार होता है? इसके लिए नीचे कोषों का स्वरूप दिखाया जाता है।

3. प्रार्थिवोऽन्नमयः।

पार्थिव शरीर अन्न का बना हुआ है।

4. तत्र नाड्योऽनन्ताः।

उसमें अनन्त नाड़ियाँ है।

प्रश्नोपनिषद् में नाड़ियों की संख्या 72000001 कही है। एक सुषुम्ना और 100 प्रधान नाड़ियाँ है। फिर इन प्रत्येक में से 72000 शाखाएँ फूटती हैं। इस प्रकार अनन्तर नाड़ियों से सारा शरीर व्याप्त है। अंग्रेजी में इन नाड़ियों को Nerves कहते हैं। नाड़ी विज्ञान समझने के लिए हमारी अंग्रेजी की पुस्तक– 'देवात्मशक्ति' –पढ़ें।

5. कंदस्तन्मूलम्।

कंद उनकी जड़ है।

कंद के अन्दर अंग्रेजी में Ganglion Impar नाम की एक ग्रन्थि बतायी जाती है। उस ग्रन्थि में से पश्चिम के विद्वानों के मत से दो नाड़ियाँ निकलती हैं जो मेरूदण्ड के बाहर उसके दक्षिण, वाम, पक्ष में खड़ी है। उनका नाम अंग्रेजी में Symparthetic Columns रखा गया है। इन्हीं दोनों को इड़ा तथा पिंगला कहते हैं। हमारे ऋषियों के मतानुसार कंद एक माँस–पेशी है जो 9 अंगुल लम्बी और 4 अंगुल घेरे वाली होती है। उसके केन्द्र में कुण्डलिनी शक्ति का स्थान है। वहाँ से सुषुम्ना, इड़ा और पिंगला तीनों का उद्गम होता है। यह स्थान गुदा के ऊपर और उपस्थ के नीचे मेरूदण्ड की अनुत्रिकास्थि के समीप है।

6. पायूपस्थयोर्मध्ये तत्स्थानम।

गुदा और उपस्थ दोनों के मध्यप्रांत में उस कन्द का स्थान है।

7. एतस्मादिडापिंगलासुषुम्ना उभ्दूताः।

इससे इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना निकलती है।

पश्चिम के डॉक्टरों के मत से सुषुम्ना का उससे सम्बन्ध नहीं है परन्तु योगियों का अनुभव इससे विपरीत है।

8. ताभ्यः शाखा प्रतिशाखा क्रमेणा सहस्त्रशः।

उन तीनों से शाखा-प्रतिशाखा क्रम से हजारों नाड़ियाँ उत्पन्न होती है। पश्चिम के डॉक्टरों के मतानुसार नाड़ियों का उद्‌गम-स्थान शिरः कपाल है, परन्तु योगियों का मत है कि कंद (ganglion impar) सब की जड़ है। उसमें से तीन तने (trunks) निकलते हैं जो नीचे पतले और ऊपर मोटे होते जाते हैं। उनमें से एक मेरूदण्ड के भीतर और दो बाहर खड़े हैं।

इड़ा और पिंगला में चौबीस-चौबीस गाँठे हैं जिनको अंग्रेजी में ganglia कहते हैं। योगशिखोपषिद् में इनको मणि कहा है। उक्त मणियों में से एक-एक शाखा सुषुम्ना के चित्रा विभाग में जा मिलती है। इड़ा से निकलने वाली चित्रा के वाम भाग में और पिंगला से निकलने वाली चित्रा के दक्षिण भाग में मिलती है। दूसरी ओर इन्हीं मणियों से अन्य शाखाएँ भी निकलती है। वे सब शरीर के सब अंग-प्रत्ययों में फैल जाती है, जैसे पीपल के पत्ते की नाड़ियाँ फैलती है।

उपरोक्त क्रम आधार से आज्ञा चक्र तक है। उसके ऊपर इड़ा, पिंगला का तो अन्त हो जाता है, परन्तु इनकी दो शाखाएँ दोनों नासापुटों तक जाती है और उनसे सम्बन्ध रखने वाले चित्रान्तर्गत शिरा-समूह दक्षिण से वाम और वाम से दक्षिण और संगम (क्रौस cross x) करके मस्तिष्क में फैल जाते हैं। जिस स्थान पर ये क्रास करती है, उस स्थान को वाराणसी कहते हैं। यहाँ पर विश्वनाथ

विराजते हैं। आज्ञा चक्र को प्रयाग कहते हैं।

आज्ञा चक्र से किंचित ऊपर मनोमय चक्र sensory centre है, जहाँ से आँख, कान, नाक, जिह्वा, मुख, हृदय से संबंध रखने वाली नाड़ियाँ निकलती है। पश्चिम के विद्वानों ने इन सबको तीन श्रेणियों में विभक्त किया हुआ है– (1) cerebrial nerves अर्थात् जो सुषुम्ना के छोटे मस्तिष्क–विभाग अर्थात् कपाल–कंद से निकलती है, (2) spinal जो मेरू से निकल कर सारे शरीर में फैल जाती है, और (3) sympathetic जो इड़ा और पिंगला से निकलकर सब अंगों में फैलती है। इनको sympathetic इसलिए कहते हैं क्योंकि ये सुषुम्ना को सहयोग देती है। भारत के विद्वानों ने इन सबको सुषुम्ना की शाखाएँ ही माना है, जैसा कि निम्न श्लोक में कहा गया है–

मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्व पंचसु संभवाः।
शाखोपशाखतां प्राप्ताः शिरालक्ष त्रयात्परम्

–शरीर के मध्य में स्थित सुषुम्ना के पाँचों पर्वों से उत्पन्न होने वाली नाड़ियाँ, शाखा–उपशाखा क्रम से, तीन लाख से भी अधिक हो जाती है।'

पाँच पर्व ये है, –ग्रीवा, पृष्ठ, नाभि, कटि और आधार। अंग्रेजी में इनके नाम इस प्रकार हैं–
(1) Cervical (2) Thorscial (3) Lumber (4) Sacral (5) Coccygeal)

उपरोक्त वर्णन से ये जानना आवश्यक है कि योगियों का क्रम कंद से ऊपर मस्तिष्क तक फैलना, सीधा अथवा लोभ क्रम है और पश्चिम वालों का उलटा अथवा विलोम क्रम है। शक्ति प्रसुप्त रूप से (in statical form) कंद में निवास करती है और जब वह सुषुम्न–द्वार से सहस्त्रार में चढ़कर समाधि लगाती है, तब मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत इच्छा, संज्ञान और क्रियात्मक स्वरूप

क्रम संसार में डालने वाला, जन्म मृत्यु और भोग रूपी बन्धन का कारण है।

9. सुषुम्ना वंशस्थिता।

10. तस्यामूर्धता बज्राचित्रा विरजा क्रमेणा संपुटिताः।

सुषुम्ना पृष्टवंश अथवा मेरूदण्ड में स्थित है और ऊपर से केन्द्र की ओर उसके भीतर तीन विभाग हैं, -बज्रा, चित्रा और विरजा। इनके अंग्रेजी नाम इस प्रकार हैं-

White portion, Grey portion and Empty cancal.

11. पूर्वे द्वेबहिः।

पहली दोनों इड़ा, पिंगला मेरू के बाहर है।

12. ते उत्तरस्यामर्पिते।

वे दोनों सुषुम्ना में समर्पित है।

13. सर्वापरि वज्रा वज्रवद्दृढ़ा।

सबसे ऊपर वज्र के सदृश्य दृढ़ वज्रा है।

14. मध्ये चित्रा चित्रवर्णा सव्याऽपसव्येड़ापिंगलावती।

मध्य में चित्रवर्णा चित्रा है जो वाम-दक्षिण भागों में इड़ा और पिंगला के धर्म वाली है।

चित्रा के दोनों भागों से वाम-दक्षिण ओर नाड़ियाँ निकल कर पहले तो सुषुम्ना के ऊपर ही लपेटे खाती है, फिर वाम भाग वाली वंश के वाम छिद्र से और दक्षिण भाग वाली दक्षिण छिद्र से बाहर निकल कर इड़ा पिंगला से मिलती है। और स्वतंत्र रूप से भी हाथों-पैरों तक फैल जाती है। अर्थात् इनके द्वारा सारे शरीर का मस्तिष्क से सम्बन्ध बना हुआ है।

15. विरजैव ब्रह्मनाड़ी कमलकर्णिकावत् षट्चक्रवतीच।

विरजा (empty canal) ही ब्रह्मनाड़ी है जो कमल के नाल के सदृश्य और छः चक्रों वाली है।

वास्तव में चक्रों का स्थान चित्रा में ही जानना चाहिए, परन्तु

जब तक ये चक्र नहीं खुलते, विरजा का मार्ग साफ नहीं होता।

16. प्रमुखा मोक्षमार्गत्वाच्छ्रुतेः।

यही प्रमुख है, मोक्ष का मार्ग होने के कारण। श्रुति इसका प्रमाण है–

'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङ्न्या उत्क्रमेण भवन्ति।।'

'हृदय की सौ और एक नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक मूर्धा को चढ़ जाती है। उससे ऊपर जाकर अमरत्व को प्राप्त करता है और दूसरी नाड़ियों से उत्क्रमण करके विश्व में जन्म लेता है।'

यहाँ पर हृदय का अर्थ हृदयपिण्ड न लेकर हृदय की शक्ति अर्थात् प्राणशक्ति लेना चाहिए। इसलिए हृदय की नाड़ियों से अभिप्राय पाणवाहिनी अथवा वातःनाड़ियों से है। श्रीमत् शंकराचार्य महाराज ने भी उक्त एक नाड़ी से सुषुम्ना नाड़ी को ही ग्रहण किया है और वह हृदय से नहीं, वरन् पृष्ठ वंश में चढ़ती है, जैसा कि निम्नोद्धृत श्लोक से स्पष्ट है–

'गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन् वीणादण्डः से देहभृत्।
दीर्घास्थि देहपर्यंतं ब्रह्मनाड़ीति कथ्यते।।'

–योग शिखोपनिषत् 6, 8

–'गुदा के पृष्ठ भाग में वीणादण्ड देह को धारण करता है। वह मोटी हड्डी का बना हुआ देह पर्यन्त है। उसमें ब्रह्मनाड़ी स्थित है– ऐसा कहा जाता है।' कुछ लोगों का विचार है कि उपरोक्त कठ–वल्ली की श्रृति में हृदय शब्द आया है, इसलिए यह एक नाड़ी सुषुम्ना नहीं है वरन् Vegus nerve है जिसको पातंजल दर्शन में कूर्म नाड़ी कहा है। इस पर ध्यान करने से तो मन की स्थिरता मात्र होती है, परन्तु समाधि तो सुषुम्ना में प्राण चढ़ने से ही लगती है। क्योंकि –

17. अनुभवादपि योगिनाम्।

योगियों के अनुभव से भी वह सुषुम्ना ही है।

18. स्मृतेश्च

स्मृतियों का भी प्रमाण है।

तंत्र शास्त्रों और पुराणों में सुषुम्ना का बहुत वर्णन मिलता है।

19. संज्ञान-क्रियात्मकत्वात् द्विविधा अन्या।

अन्य नाड़ियाँ दो प्रकार की है, संज्ञानात्मक और क्रियात्मक होने से।

20. ताभिः प्राणाश्चरति।

उन नाड़ियों में प्राणशक्ति प्रावाहित होती है।

21. एष प्राणामयः

यह प्राणमय कोष है।

प्राणमय कोष, अन्नमय कोष के अन्दर, सूक्ष्म शक्तिमय कोष है। यह शक्ति यद्यपि स्थूल शरीर में पार्थिव तन्तुओं के जाल द्वारा उसको व्याप्त किये हुए है, तो भी उक्त तन्तु-जाल अथवा नाड़ियाँ प्राणमय कोष नहीं है।

22. हृदि स्थानं मनसः

हृदय में मन का स्थान है।

कुछ पाश्चात्य रंग में रंगे लोगों का मत है कि मस्तिष्क (brain) से ही सब नाड़ियों (nerves) का सम्बन्ध है, हृदय से तो रक्त-पित्त-वाहिनी (artillaries and veins) का ही सम्बन्ध है इसलिए कठोपनिषदोक्त 101 नाड़ियों का उद्‌गमस्थान हृदय कहीं मस्तिष्क (brain) में ही होना चाहिए और उसको वे योगियों का हृदय (yogic heart) कहते हैं। यद्यपि अपने उक्त काल्पनिक हृदय की स्थिति, आकार अथवा क्रिया का तो वे कुछ पता नहीं दे पाते, परन्तु प्रमाण में योगवासिष्ठ जैसे शास्त्रों के आधार पर अपनी पुष्टि करते हैं। नारायणोपनिषद् में हृदय का स्थान नाभि के 10 अंगुल ऊपर स्पष्ट बताया गया है। सब आचार्यों ने हृदय को हृदय माना है Heart शब्द भी हृदय शब्द का अपभ्रंश रूप है। हृदय के अधीन ही सब

नाड़ियों का संयम है। Brain के निष्क्रिय होने पर यदि हृदय कार्य करता रहे तो मृत्यु नहीं होती और हृदय गति बंद होने पर तुरंत मृत्यु हो जाती है। समाधि की अवस्था में यद्यपि हृदय की गति रूक जाती है, परन्तु प्राण की क्रियाएँ भी बन्द हो जाती है अथवा इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि बन्द प्रायः प्रतीत होती है। किसी योगाचार्य ने यह नहीं कहा कि जहाँ सुषुम्ना-मार्ग से प्राण सहस्रार में चढ़ जाता है, वह स्थान हृदय है।

योगिराज श्री रमण महर्षि हृदय का स्थान दाहिनी ओर बताया करते थे, जहाँ से 'अहम्' वृत्ति का स्फुरण अनुभव में आता है। इस विषय पर हमने Anatomist से परामर्श किया। उनका कहना है कि हृदय का ऊपरी कोण जो nervous control करता है, वह दक्षिण की ओर हुआ है। उसे की कूर्म नाड़ी समझना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि जब आणवोपाय द्वारा भी शाम्भवोपाय अर्थात् ब्रह्मभाव की उपलब्धि हो सकती है, तब शक्तिपात की क्या आवश्यकता है? यह कहा जा चुका है कि आणवोपाय के सब साधन परिश्रम एवं यत्न साध्य है। यदि साधन गुरू के निर्देशानुसार और शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुकूल अपनी अल्प एवं अनुभवहीन बुद्धि के कारण इनका अनुष्ठान ठीक न कर सके और लक्ष्य की प्राप्ति के पूर्व ही पथभ्रष्ट अथवा रोगाक्रान्त हो जाय, तो उसका सब परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। अनेकों साधकों को देखा गया है कि दीर्घ समय तक साधनरत रहने पर भी सन्तोषप्रद प्रगति नहीं कर पाये। शक्तिपात द्वारा शिष्य की प्रसुप्त आध्यात्मिक शक्ति, जो ज्ञानमयी है, जागकर उसे सब विघ्नों से बचाती हुई अनायास पार लगा देती है। दूसरा लाभ यह भी है कि साधक को विषयों से स्वतः विरति होने लगती है जो अति दुष्कर कार्य है। कहा है कि विषयों का रस परम दर्शन के पूर्व निवृत्त नहीं होता, और-

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरूषस्य विपश्चितः।

इन्द्रियाणि प्रमथिनि हरन्ति प्रसभं मनः।।

–गीता 2.60

गुरू के अनुग्रह रूप शक्तिपात द्वारा साधक की प्रसुप्त शक्ति जागने पर उसका मन बहिर्विषयों से हटकर और अपने ही अन्दर के दिव्य अनुभवों का साक्षी बनकर आत्मरत होने लगता है और तब उसे ब्राह्म विषय फीके लगने लगते हैं–

'योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ग्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।'

–गीता 5.24

हमने चित्त को सिनेमा के पर्दे की उपमा दी है। यह पर्दा ऐसा विचित्र है कि स्वतः ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सब विषयों को अपने पर ही अंकित करता है, स्वतः ही बुद्धि द्वारा उनको परखा करता है, मन द्वारा उनके आधार पर अनेक विविध संकल्प किया करता है और स्वतः ही उनकी आसक्ति में फँस भी जाता है शक्ति जागने के उपरान्त उसे एक अपूर्व अन्तःसुख का अनुभव होता है जिसके कारण वह वाह्य विषयानन्द से विरत होकर आत्मस्थित रहने लगता है।

'मनामयोऽयं पुरूषो भाः सत्यस्तिस्मिन्नन्तर्हृदये।'

–बृह0 5, 6, 1

23. तदपि प्राणाऽनुगम्।

वह भी प्राण शक्ति के आधार पर चलता है।

मन की गति भी प्राण के पीछे–पीछे है। कहा है–

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदम्य हरित प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।

– गीता 2, 67

– 'चलती हुई इन्द्रियों के पीछे–पीछे जब मन चलता है, तब वह उस

मनुष्य की बुद्धि को इस प्रकार हर लेता है जैसे समुद्र में नाव को वायु इन्द्रियाँ प्राणशक्ति का ही स्थूल कार्य है।

24. एष मनोमयः।

यह मनोमय कोष कहलाता है।

मन की गति ही, जो संकल्पमय है, मनोमय कोष कहलाती है। चित्त की वृत्तियों को मनोमय कोष की तरंगे समझना चाहिए। कहा है– 'संकल्पात्मकं मन'।

25. कूर्मनाड्या तद्विज्ञानेन युक्तम।

यह मनोमय कोष कूर्म नाड़ी के द्वारा विज्ञानमय से संयुक्त है। कूर्म नाड़ी को अंग्रेजी में Vagus Nerve कहते हैं।

26. मूर्ध्नि विज्ञानमयः।

मस्तिष्क में विज्ञानमय कोष है।

विज्ञानमय कोष के धर्म चेतना, संवित्, बुद्धि और अहंकृति है। अंग्रेजी में इनको Different states of conciousness के अन्तर्गत माना जाता है। विज्ञानमय कोष की तीन तह या स्तर है–

(1) संस्कारों का आशय Sub-conciousness, (2) स्मृति Memory or personal conciousness और (3) शुद्ध संवित् pure or impersonal conciousnessess.

इस जन्म अथवा पूर्वजन्म में मनुष्य ने जो-जो अच्छे या बुरे कर्म किये हैं, उनके संस्कार विज्ञानमय कोष में सदा संचित रहते हैं जिसको संस्काराशय अथवा कारण शरीर कहते हैं। परन्तु उनका ज्ञान तभी होता है जब वे स्मृति-पटल पर आ जाते हैं। यही विज्ञानमय कोष का अंग है। पहली संस्कारों की और दूसरी स्मृति की अवस्था है। शुद्ध संवित् में निरूपाधिक ज्ञान होता है जो शुद्ध सत्व गुण की प्रधानता से दीख पड़ता है, उसमें इन्द्रियज्ञान अथवा वृत्तिज्ञान का अभाव रहता है।

27. संज्ञान क्रियेच्छात्मिकाशक्तिः।

शक्ति संज्ञानात्मिका, क्रियात्मिका और इच्छात्मिका, -तीन रूप से व्यक्त होती है।

28. मनोविज्ञानाभ्यामिच्छा

मन और विज्ञान के द्वारा इच्छा शक्ति कार्य करती है।

29. ज्ञानेन्द्रियैः संज्ञाना

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा संज्ञान शक्ति कार्य करती है।

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और श्रवण की 5 इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनमें जो शक्ति कार्य करती है, उसको संज्ञान शक्ति कहते हैं।

30. कर्मन्द्रियैः क्रिया।

कर्मेन्द्रियों द्वारा क्रिया शक्ति कार्य करती है।

बोलना, पकड़ना, चलना, मैथुन की क्रिया करना और मल-मूत्र का त्याग करना क्रिया शक्ति के कार्य हैं।

31. सर्वे प्राणे प्रतिष्ठितम्

उपरोक्त सब प्राण में प्रतिष्ठित हैं।

'अराइव रथनाभौ प्राणे सर्व प्रतिष्ठितम्'

-प्रश्नोपनिषत् 2, 6

--जिस प्रकार रथ के पहियों की नाभि में अरे लगे रहते हैं, उसी तरह शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सब प्राण में प्रतिष्ठित है।'

32. प्राणः पंचविधः

प्राण पाँच प्रकार का है।

33. प्राणोऽपानः समानो व्यानः उदानश्च

प्राण, अपना, समान, व्यान और उदान

ये पाँचों एक ही शक्ति के अवान्तर भेद हैं, यद्यपि वे पाँच प्रकार से कार्य करते दृष्टिगोचर होते हैं। इसका कार्य पिण्ड और ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है इसीलिए उपनिषदों में इसका आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टिकोणों से वर्णन किया गया है। जैसे-

आदित्यो हवै प्राणः

-प्रश्न0 1, 5

–'आदित्य ही निश्चय से प्राण है' वह एक ही पाँच रूप बनाकर सबको धारण करता है।

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोह मापद्यथ अहमेवै तत्पंचधात्मान् प्रविभज्यैतद् वाणमवष्टभ्य विधारयामीति।

–प्रश्न0 2, 3

–'उन (आकाशादि पंचतत्तव, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों मन और चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों) से सर्वश्रेष्ठ प्राण ने कहा है कि तुम इस मोह में मत पड़ो कि हम ही इस शरीर को अथवा ब्रह्माण्ड को धारण कर रहे हैं, क्योंकि मैं ही अपने आपको पांच रूपों में विभक्त करके इस शरीर को आश्रय देकर अधिभौतिक जगत् में धारण कर रहा हूँ।'

एषोऽगिस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेषवायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं चयत्॥

–प्रश्न0 2, 5

– 'यहीं प्राण अग्नि के रूप में तपता है, यही सूर्य है, यही इन्द्र होकर बरसता है, यही वायु है, यही पृथ्वी है और यही रयि है अर्थात् यह देव सब भोग–पदार्थों के रूप में है। कहाँ तक कहें, सत्–असत् सब कुछ यही है और अमृत भी यही है'

आदित्यों ह वै वाह्यः ....
प्राण पृथिव्यां या देवता सैषा
पुरूषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यत् आकाशः स
समानो वायु–र्व्यानः। तेजोहवा उदानः।

–प्रश्न 3, 89

–'आदित्य (सूर्य) वाह्य प्राण है, पृथ्वी की जो देवता रूपी शक्ति है वह पुरूष के अपान को आश्रय देकर अन्दर फैली हुई है, आकाश समान है, वायु व्यान है और तेज ही उदान है।'

आध्यात्मिक पाँचों रूप भी उस एक ही प्राण शक्ति के

अवान्तर भेद हैं, यथा-

..... एष प्राण दतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते।

- प्रश्न0 3, 4

- 'यह प्राण ही दूसरे प्राण को पृथक-पृथक धारण करता है। उक्त पंचधा प्राण-शक्ति के भेदों से प्राणमय कोष बनता है।

34. दशविध इतिकेचित्। नाग कूर्म कृकिल देवदत्त धनंजयाऽभिधेया अन्ये।

'प्राण दस प्रकार का है'- ऐसा भी किसी-किसी का मत है। नाग, कूर्म, कृकिल, देवदत्त और धनंजय पाँच नाम वाले अन्य पाँच हैं।

छींकने, हिचकी लेने, डकार आदि क्रियाओं में नाग काम करता है। नेत्रों के पलकों के निषोन्मेष में कूर्म, भूख-प्यास लगाने में कृकिल, निद्रा लाने में देवदत्त और मृत्यु के पश्चात् भी शरीर की आकृति को बनाये रखने में धनंजय कार्य करता है। ये भी प्राणमय कोष के ही अन्तर्गत है।

35. चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठिते।

चक्षु और श्रोत्र की इन्द्रियों में, और नासिका के द्वारा प्राण स्वयं प्रतिष्ठित है।

36. अपनयत्तीति* अपानः।

नीचे ले जाने वाली शक्ति का नाम अपान है। जैसा कि कहा है-

---

*प्राण, अपान इत्यादि शब्दों की व्युत्पत्ति 'अनच' धातु से है जिसका अर्थ जीवन धारण करना है। इसलिए पाँचों प्राणों का अर्थ अपनी-अपनी क्रिया से जीवन को धारण करना है। यदि इनमें से एक की भी क्रिया विकृत हो जाती है तो वही मृत्यु का कारण बन जाता है।

पायूपस्थेऽपानम्।

–प्रश्न0 375

–'गुदा और उपस्थ में अपान काम करता है।'

37. समं नयतीति समानः।

जो समानता से सब जगह ले जाता है, वह समान वायु है। जैसा कि श्रुति में कहा है–

मध्येतु समानः। एषह्य तेद्भुक्तमन्नं
समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति।

– प्रश्न 3, 5

'मध्य में समान रहता है, यही खाये हुए अन्न को सारे शरीर में समान रूप से पहुँचाता है जिससे ये सात ज्वालाएँ बनती हैं,– 2 कान, 2 आँख, 2 नासिका–रन्ध्र और 1 मुख। अथवा 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि मिलकर 7 ज्वालाएँ हैं।'

38. व्यप्नोतिति व्यानः।

व्यापक है, इसलिए व्यान कहते हैं।

द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाड़ी
सहस्त्राणि भवन्त्यासुव्यानश्चरति।

प्रश्न 3, 6

–'शाखा–प्रतिशाख रूप से बहत्तर हजार की संख्या वाली सब नाड़ियों में जो शक्ति–संचार करता है, वह व्यान है।'

39. ऊर्ध्वनयतीत्युदानः

ऊपर ले जाता है, उसको उदान कहते है।

इसी के बल से योगी अपने वीर्य की रक्षा करके ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उसको ऊपर खींचकर ऊर्ध्वरेता कहलाते हैं और सुषुम्ना में प्राण चढ़ाकर समाधि का अनुभव लेते हैं। मृत्यु के समय साधारण मनुष्यों के प्राण को खींचकर यही शक्ति दूसरे पुण्यापुण्य अथवा मनुष्य लोक में ले जाती है। जैसा कि श्रुति में कहा है –

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति,
पापेन पापमुभाभ्यां मनुष्य लोकम् ।

–प्रश्न 3-7

"और उन सब नाड़ियों में एक नाड़ी से ऊपर की ओर जाने वाला उदान पुण्य से अच्छे लोकों को, पाप से बुरे लोकों को और दोनों से मनुष्य लोक को ले जाता है।' उक्त श्रुति के भाष्य में श्रीमत् शंकराचार्य 'एक नाड़ी' का अर्थ सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा उदान का ऊपर ले जाना कहते है।'

40. असंगो ह्यायमात्माऽऽनन्दमयः

आत्मा, जो असंग ही है, वह स्वयं आनन्दमय है। यद्यपि आत्मा से निस्सृत् आनन्द का यह कोष तमोगुण के आवरण से आवृत है।

ब्रह्मसूत्रों में भगवान् व्यास जी ने कहा है कि आनन्दमय में 'मयट्' प्रत्यय प्राचुर्यार्थ में प्रयुक्त है, नकि विकरार्थ में, जैसा कि इसके विपरीत अन्न-रसमय प्राणमय मनोमय और विज्ञानमय में 'मयट्' का प्रयोग विकारार्थ में किया गया है (विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्' – 1, 1, 13) पूर्व पक्ष में शंका करते है कि विकार के लिए 'मयट्' प्रत्यान्त शब्द का प्रयोग होने से आनन्दमय ब्रह्म के लिए नहीं कहा गया, अन्नमयादि के सदृश्य आनन्द के विकार का ही कोई कोष होना चाहिए। फिर इस शंका का उत्तर पक्ष में समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है, यहाँ पर 'मयट्' प्रत्यय का प्रयोग प्राचुर्य के अर्थ में किया गया है, विकार के अर्थ में नहीं। यद्यपि आगे सिद्धान्त पक्ष में वे सिद्ध करते है कि आनन्दमय भी एक कोष ही है जिसको सुषुप्ति समझना चाहिए।

41. विकास आनन्द-घूर्णा-कम्पोदभव- निद्रामूर्च्छात्मकः

विकास आनन्द, घूर्णा, कम्प का उद्भव, निद्रा और मूर्छा के रूप में होता है। शक्तिपात होने के पश्चात् शिष्य की शक्ति जागने से

उसके स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में शक्ति का विकास होता है। जब तक पूर्ण विकास न हो तब तक उसका गुरू के समीप रहना उचित है, इसलिए तीन रात्रियों के नियम का विधान किया गया है। साधारणत् सबका तीन दिन में विकास हो ही जाता है। उत्तम अधिकारियों को तो तत्क्षण ही पूर्ण विकास हो जाता है परन्तु उनको भी तीन रात्रि के नियम का पालन करना ही चाहिए।

जैसा कि ऊपर समझाया गया है, विकास प्राण शक्ति के उत्थान से होता है। इसलिए सर्वप्रथम प्राणमय कोष पर ही प्रभाव पड़ता है जिससे नशासा, सिर या सारे शरीर में भारीपन इत्यादि चिन्ह प्रकट होते हैं। फिर स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोष में कम्प, घूर्णा अर्थात् घुमेर होने लगती है, शरीर क्रियाएं करने लगता है और साथ ही मन में आनन्द के श्रोत उमड़ने लगते हैं। कभी-कभी निद्रा भी आ जाती है और किसी-किसी को आनन्दमयी मूर्छा-सी भी होती है, परन्तु साधारणतः मूर्छा देखने में नहीं आती, मनुष्य को सब अनुभवों का ज्ञान बराबर बना रहता है। चित्त का निरोध होना मनोमय का विकास समझना चाहिए। दिव्य श्रवण, दिव्य दर्शन, दिव्य स्पर्श, दिव्य रस और दिव्य गन्ध के अनुभव विज्ञानमय कोष के विकास हैं और आनन्द के प्रादुर्भाव को आनन्दस्वरूप आत्मा का ही अनुभव समझना चाहिए।

यह कहा जा चुका है कि विकास प्राणशक्ति के उत्थान के कारण होता है। उपनिषदों में प्राणोपासना का वर्णन मिलता है और 'प्राण ब्रह्म ही है'- ऐसा कहा गया है। साधारण बोलचाल में भी प्राण शब्द का प्रयोग चेतना शक्ति के लिए ही व्यहार में लाया जाता है। मरण के लिए प्राणान्त शब्द का प्रयोग प्रायः किया जाता है और प्राणी से जीवधारी का अभिप्राय होता है।

श्वास-गति को भी प्राण कहते हैं, क्योंकि श्वास-प्रश्वास पर जीवन का आधार है और उसी से सारी जीवन-कलाएँ कार्य करती

हैं। यथार्थ में प्राण वह शक्ति है जिससे सारे अंग-प्रत्यंग और नस-नाड़ियाँ निरन्तर अपना-अपना काम करती हैं। इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि भी प्राण के आधार पर स्थित है।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ भी प्राण के ही आश्रित है। यद्यपि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सुषुप्ति में निष्क्रिय हो जाते हैं, पर प्राण तब भी अपना कार्य करते रहते हैं। श्वास-प्रश्वास को प्राण कहने का अभिप्राय यह है कि हृदय और फुफुस को सतत् कार्यशील रखने वाली शक्ति मुख्य प्राण है।

तीनों अवस्थाओं में प्राण-शक्ति का प्रवाह सारे शरीर की नाड़ियों में होता रहता है और उक्त नाड़ियों का पृथक-पृथक कार्य निश्चित है। परन्तु प्राण-प्रवाह सदा बहिर्मुख रहता है। जब वह अन्तर्मुख होने लगता है, तब उसका प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ता हुआ समझना चाहिए। ब्रह्मरन्ध्र में प्राण चढ़ने से समाधि लगती है और उससे नीचे की अवस्थाओं में चित्त की एकाग्रता आती है। सुषुम्ना में समष्टि प्राण का उत्थान होने पर बाह्य क्रियाएँ बन्द हो जाती है, यहाँ तक कि श्वास और हृदय की गति भी बन्द हो जाती है।

योग के अभ्यास से शक्ति के जागने पर नाड़ियों के मल की शुद्धि होने लगती है और वे शुद्ध होकर सुगम हो जाती है। तब उनमें शक्ति के प्रवाह में कोई रूकावट नहीं रहती, संकल्प मात्र से विद्युत के सदृश्य संचार होने लगता है और तब सारे शरीर की नाड़ियों से खिंचकर प्राण सरलता से सुषुम्ना में चढ़ने लगते हैं।

उपरोक्त प्राण-अपानादि उस एक प्राणशक्ति के ही अवान्तर भेद है। उसके भिन्न-भिन्न कार्यक्रमों के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम रख दिये गये हैं, जैसा कि ऊपर के सूत्रों से स्पष्ट है।

चतुर्थ पाद

1. कुण्डलिनी प्रणवस्वरूपिणी

कुण्डलिनी प्रणवस्वरूपिणी है।

महा कुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्म स्वरूपिणी ।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकाऽनेकाक्षराऽकृतिः ।

– योग कुण्डलिन्योपनिषत्

– 'कुण्डलिनी शक्ति परब्रह्म स्वरूपिणी, महादेवी, शब्द-ब्रह्ममयी अर्थात् प्रणवस्वरूपिणी है, एक और अनेक अक्षरों के मन्त्रों की आकृति में व्यक्त होती है'

अ = सत्वगुण, उ = रजोगुण, म् = तमोगुण है और अर्द्धमात्रा से उत्पन्न होने वाली अनुनासिक ध्वनि आत्मा के शुद्ध स्वरूप की व्यंजक है जो अन्त में घण्टा-नादवत् ब्रह्म में लय हो जाती है। इन्हें ही कुण्डलिनी शक्ति के साढ़े तीन कुण्डल समझना चाहिए जो स्वयम्भू लिंग पर वेष्टित है।

2. मूलाधारे प्रसुप्ता साऽत्मशक्तिः।

वह आत्मशक्ति मूलाधार में सो रही है। (Lies in the Static Form)

सोती हुई कुण्डलिनी को मुख में पूँछ दबाकर सुषुम्ना के द्वार को रोके हुए बताया जाता है। वास्तव में यह आध्यात्मिक शक्ति को अलंकृत भाषा में वर्णन किया गया है।

3. उन्निद्रिता विशुद्धे तिष्ठति मुक्तिरूपा पराशक्तिः।

जागी हुई (When in Dyanamic Form) वह मुक्तिरूपा पराशक्तिः।

शक्ति के जागने पर तीनों गुणों के बन्धन ढीले पड जाते हैं और कुण्डलिनी अपने कुण्डलों को छोड़कर सीधी सर्पाकृति हो जाती है। शक्ति का उठना और सुषुम्ना में होकर कपाल में चढ़ना योगियों

के प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। उसकी गति सर्पवत् प्रतीत होने के कारण उसकी उपमा सर्प से दी जाती है।

यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगविधेरपि।।

– जब तक वह देह में सोती रहती है, तब तक मनुष्य पशुवत् व्यवहार करता है, क्योंकि तब तक करोड़ों, योग–साधन करने से भी ब्रह्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

बहुत से मनुष्यों की धारणा है कि कुण्डलिनी एक नाड़ी है। वास्तव में ऐसा अनुमान होता है कि कन्द (Ganglion Impor) में शक्ति प्रसुप्त रूप (Static Form) में सदा रहती है और जागने पर उसमें से निकल–निकल कर (Kinetic) गति रूप में सुषुम्ना में चढ़ने लगती है। कन्द उक्त शक्ति का अनन्त भण्डार है। जागने पर उसका आध्यात्मिक चेतन स्वरूप शरीर, मन, वाणी में व्यक्त होने लगता है।

4. योगाभ्यासात्तीव्र वैराग्याच्च।

योग के अभ्यास और तीव्र वैराग्य से जाग जाती है।

5. ज्ञानभक्तिभ्यां वा

ज्ञान और भक्ति से भी।

केवल शाब्दिक ज्ञान से नहीं जागती, इसलिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता है।

6. प्राणायामाद्वा

अथवा प्राणायाम करने से।

प्राणायाम अष्टांग योग का चौथा अंग है, इसलिए चौथे सूत्र में योग के अभ्यास के अन्दर आ जाता है। यहाँ पर फिर प्राणायाम को एक अलग उपाय़ कहने का अभिप्राय यह है कि केवल प्राणायाम के अभ्यास से भी शक्ति जाग उठती है। कहा है– 'न 'प्राणायामात्परं तपः'– प्राणायाम से बड़ा दूसरा तप नहीं है। यहाँ पर प्राणायाम का अर्थ सहित कुम्भकों से है, जैसे भस्त्रिका, उज्जायी इत्यादि। पूरक, रेचक सहित कुम्भक को 'सहितकुम्भक' कहते हैं।

7. शक्तिपाताद्विशेषेण।

शक्तिपात के द्वारा विशेषता से जाग जाती है।

शक्तिपात में विशेषता यह है शिष्य के प्रयास के बिना ही गुरू-कृपा से शक्ति तुरन्त जाग जाती है, नहीं तो साधक को निरन्तर दीर्घकाल तक उसके जगाने के लिए ही कष्टसाध्य यत्न करना पड़ता है और उसमें भी हानि होने की सम्भावना रहती है।

8. तत्तु गुरूकृपयैव लभ्यते

परन्तु यह गुरू की कृपा के द्वारा ही होता है।

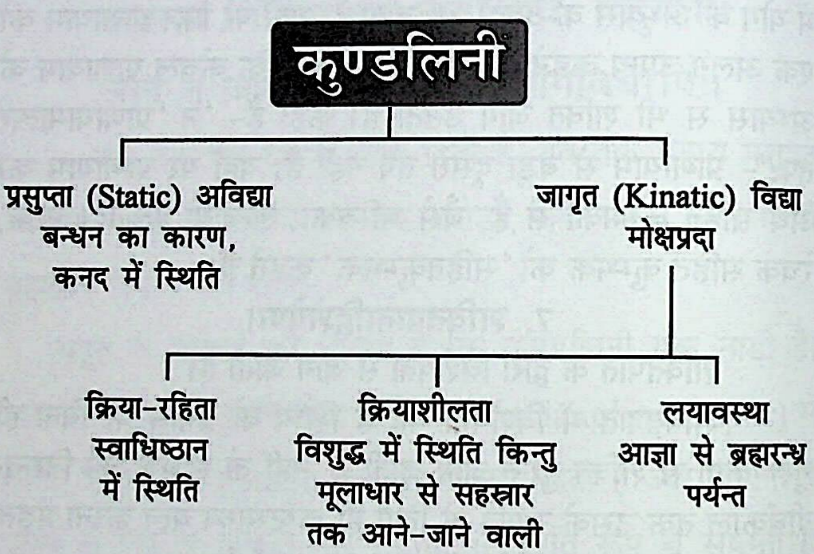
9. ततः क्रियावती च भवति ज्ञानवत्वात्

उस (शक्तिपात) से क्रियावती भी हो जाती है, शक्ति के ज्ञानवती होने के कारण।

कुण्डलिनी के अविद्या और विद्या – दो रूप कहे जा सकते हैं अविद्या अवस्था में सोती हुई, बन्धन का कारण होती है और जागने पर विद्यावस्था धारण करके मोक्षप्रदा होती है। जागने पर उसके तीन स्वरूप होते है।

क्रिया–रहिता, क्रिया–शीला और लयावस्था। क्रिया–रहिता में मनुष्य की प्रवृत्ति विवेक, वैराग्य की ओर होती है परन्तु मोक्ष–साधन का प्रारम्भ नहीं होता। हाँ, शक्ति पापों का नाश करती है। पापों का

नाश करती रहती है। पापों का नाश होने पर उसकी मोक्ष-यात्रा का प्रारम्भ होता है, समाधि अथवा मोक्षावस्था में शक्ति ब्रह्म में लय हो जाती है।



क्रियावती होने पर हठयोग के विविध आसन, प्राणायाम, बन्ध मुद्राएँ, भक्ति की विभिन्न अवस्थाएँ, नृत्य, गीत, उद्गीथ, प्रणव-ध्वनि, नाम-कीर्तन और मन्त्रयोग, ज्ञानयोग की अनेक क्रियाओं का साधक को अनुभव होता है। इन क्रियाओं का कारण शक्ति का ज्ञानवती होना है। यदि शक्ति अचेतनवत् व्यवहार करती तो उसकी क्रियाएँ ऐसी चेतना और ज्ञानयुक्त न होती।

10. क्रियाः स्थूल-लिंग-कारणभेदतो बहुविधाः।

क्रियाएँ स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के भेद से नाना प्रकार की होती है।

शक्ति के जागने में और क्रियाशील होने में भी अन्तर है। क्रियाशीला होने पर ही शारीरिक, मानसिक क्रियाओं का विकास होता है, केवल जागने भर से नहीं होता। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और

कारण शरीर की क्रियाएँ अलग-अलग अनुभव में आतीं है। सब मनुष्यों को एक समान क्रियाएँ नहीं होती, सबकी भिन्न-भिन्न प्रकृति, स्वभाव और संस्कारों के अनुसार बहुत प्रकार की होती है। सब मनुष्य अपनी-अपनी अलग क्रियाएँ करते हैं, इसलिए यह सहज या स्वाभाविक योग भी कहलाता है और किसी को इससे हानि की सम्भावना नहीं होती। प्रायः देखा गया है कि प्राणायाम, शीर्षासनादि क्रियाओं का अभ्यास करने वाले रोगाक्रान्त हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि उक्त क्रियाएँ उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं है। शक्ति के क्रियाशील होने पर स्वाभाविक क्रियाएँ विकसित होती हैं और वे देश, काल, ऋतु के अनुसार साधक के शरीर, मन, प्राण के अनुकूल ही होती है।

11. कायिक वाचिक मानसिकाः

क्रियाएँ शारीरिक, वाचिक और मानसिक - तीनों प्रकार की होती है।

12. ता नेच्छातन्त्राः संस्कारतंत्रत्वात्

वे इच्छा की नहीं, संस्कारों की तन्त्र होने के कारण इच्छा चाहे गुरू की हो, चाहे शिष्य की, क्रियाएँ किसी की इच्छा के अधीन नहीं होती।

13. शक्तितन्त्रत्वाद्वा

चाहे उनको शक्ति के तन्त्र मानो।

क्योंकि शक्ति का वेग होने पर नाना प्रकार की क्रियाएँ होने लगती है।

दूसरे शक्ति ज्ञानवती कही गई है, इसलिए भी वह स्वतन्त्र है।

14. तद्वेगस्तु न तथा।

परन्तु उसका वेग भी उक्त इच्छा के तन्त्र नहीं है, -ऐसा नहीं है।

क्योंकि इच्छा से वेग को रोका जा सकता है। यदि किसी

साधक को बाहर किसी जन-समुदाय में वेग आ जा, तो वहाँ पर वह अपनी इच्छा से अपने वेग को राक सकता है। क्रियाएँ सदा एकान्त स्थान और बन्द कमरे में करने का विधान है, जनसमुदाय में नहीं, जैसे कि आजकल जनसमुदाय में भगवत्कीर्तन करते समय भाव-प्रदर्शन करने और नाच कर तमाशा सा करने का रिवाज कुछ महात्माओं ने चलाया है। जनसमुदाय में क्रियाएँ करने से शक्ति का अनुचित संक्रमण और ह्रास होता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

15. ततः प्राणापानयोरूत्थानम्।

क्रियाएँ करने से प्राण और अपान का उत्थान होने लगता है।

पहले कह आये हें कि शक्ति के जागने से प्राणशक्ति का उत्थान होता है। यहाँ पर बताया गया है कि क्रियाएँ होने के फलस्वरूप भी प्राण और अपान दोनों का उत्थान होता है। इसलिए जितनी अधिक देर तक अभ्यास किया जाता है और जितनी अधिक क्रियाएँ होती हैं, उतनी ही शीघ्रता से प्राण-अपान का उत्थान होकर अधिक उन्नति होती है।

16. सुषुम्नां व्रजति।

शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश करने लगती है।

17. चक्राणि भिन्नत्ति।

चक्रों का वेध करती है।

18. ततो नाड़ीशुद्धिः।

उससे नाड़ियों की शुद्धि होती है।

सुषुम्ना से सब नाड़ियों का सम्बन्ध है। वे उसमें से शाखोपशाखा क्रम से निकलकर अंग-प्रत्यंग में फैली है, इसलिए शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश करके, चक्रों का वेध करके, सारे नाड़ी-जाल में वेगपूर्वक फैल जाती है- जैसे हौज से भरा हुआ जल नगर के प्रत्येक घर, गली और बाजार के नलों में वेग से फैल जाता है। यदि

किसी जल में किसी प्रकार की रूकावट हो तो वह भी पानी के वेग से स्वयं दूर हो जाती है।

19. प्राणमये संचालयति प्राणम्

प्राणमय कोष में सर्वत्र प्राण का संचालन कर देती है। नाड़ी-शुद्धि होने पर, समस्त नाड़ी-जाल शुद्ध हो जाने के कारण, प्रत्येक शाखा-उपशाखा में सर्वत्र प्राण का वेग सं संचार होने लगता है और प्राणमय कोष शक्ति से आनखशिख परिपूर्ण हो जाता है। इस अवस्था का नाम घटा अवस्था है। क्रियाओं के आरम्भ होने से आरम्भ अवस्था कहलाती है। आरम्भ अवस्था में शक्ति के ऊर्ध्वागामी होने से इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होने लगती है और शक्ति के वेग से प्राणमय कोष के प्राण से परिपूर्ण हो जाने पर घटावस्था कहलाती है।

20. तदा प्रणायामसिद्धिश्च।

वह प्राणायाम की सिद्ध होती है।

21. सा चतुर्विधा।

वह प्राणायाम की सिद्धि चतुर्विध होती है।

22. प्राणस्यापानेऽपानस्य प्राणे योग उभयोर्गतिरोधश्च।

23. केवल प्राणविलीने चतुर्थः

अपान में प्राण का योग होना, प्राण में अपान का योग होना और दोनों की गति का निरोध होना। चौथा केवल प्राणायाम है जिसमें प्राण का लय हो जाता है।

जैसा कि श्री भगवान् ने गीता में अर्जुन से यज्ञों का वर्णन करते हुए कहा है-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणपान गतीरूद्ध्वा प्राणायोम परायणाः ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।

–'कोई तो अपान में प्राण की आहुति देते हैं, दूसरे प्राण में अपान की आहुति डालते हैं, कोई प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम करते हैं और दूसरे नियमपूर्वक आहार करके प्राण की प्राण में आहुति देते है। ये सब ही यज्ञ के जानने वाले हैं जिन्होंने अपने पापों को यज्ञ द्वारा निकाल फेंका है।

उक्त चारों प्रकार के प्राणायामों का श्वास–प्रश्वास के पूरक, रेचक और कुम्भक प्राणायामों से अभिप्राय नहीं है, परन्तु रेचकपूरक द्वारा इनकी सिद्धि हो सकती है और शक्ति जागने पर बिना रेचक–पूरक के भी सिद्ध होते है। चारों की क्रियाएँ नीचे समझायी जाती है। पाठकों को यह बात तो उपरोक्त श्लोकों से समझ में आ ही गयी होगी कि असली प्राणायाम प्राण और अपान के मिलने से होता है। ये दोनों शक्तियाँ कहाँ और किस प्रकार मिलायी जाती है?'– यहीं समझने की बात है।

अपान शक्ति का स्थान पायु तथा उपस्थ है अर्थात् अपान आधार चक्र के समीप रहता है और उसकी गति नीचे की ओर होती है। प्राण शक्ति हृदय से ऊपर के भाग में काम करती है दोनों का योग करके इनको सुषुम्ना–विवर में प्रविष्ट करना चाहिए। सुषुम्ना में प्रवेश करने का द्वार कुण्डलिनी के स्थान पर है जो मूलाधार और स्वाधिष्ठान के बीच में स्थित है अर्थात् प्राण और अपान दोनों को इसी स्थान पर खींचकर मिलाना होता है जिससे दोनों मिलकर सुषुम्ना में प्रवेश करते है। तब घटावस्था की सिद्धि होती है और योगी के किंचित प्रयत्न अथवा संकल्प मात्र से जहाँ चाहे वहीं प्राण का प्रवाह सुगमता से होने लगता है।

1. अपान शक्ति में प्राणों की आहुति देने के लिए प्राण को नीचे उतरना पड़ेगा और उसको आधार चक्र में ले जाकर अपान में मिलाना पड़ेगा। यह क्रिया पूरक और अन्दर के कुम्भक करने से भी सिद्ध होती है। श्वास को फुफ्फुस Lungs में धीरे–धीरे, परन्तु दबाव

के साथ खींचकर पूरक करना पड़ता है। फिर कण्ठ का संकोचन करके जालन्धर बन्ध द्वारा वायु को जोर से नीचे दबाया जाता है। इस क्रिया से, कुछ अभ्यास के पश्चात्, प्राण शक्ति ऊपर के भाग की सब नाड़ियों से इड़ा-पिंगला नाड़ियों में खिंचकर नीचे की ओर उतरने लगती है और धीरे-धीरे कन्द के पास मूलाधार चक्र में एकत्रित होती है। वहाँ पर योगी ने पहले से ही सिद्धासन अथवा गुदा का संकोचन करके मूलबन्ध द्वारा अपान शक्ति को रोका हुआ होता ही है। इस प्रकार वहाँ दोनों का योग किया जाता है। यह प्राण की अपान में आहुति हुई।

2. फिर रेचक द्वारा धीरे-धीरे प्रश्वास को निकाला जाता है और मूलबन्ध तथा पेट को पीठ की ओर खींचकर उड्डयान बन्ध द्वारा नीचे की नाड़ियों से अपान को ऊपर खींचकर प्राण से मिलाया जाता है। इस प्रकार फिर दोनों का योग होता है। यह अपान की प्राण में आहुति देना है। उक्त प्रकार दोनों का योग करके प्राण के सुषुम्ना में प्रवेश करने पर असली प्राणायोम की सिद्धि होती है।

3. तदनन्तर बाह्य कुम्भक करके श्वास-प्रश्वास की गति रोक दी जाती है। जिससे प्राण और अपान दोनों अपना-अपना वाह्य कार्य त्याग कर अन्तर्मुख होने लगते हैं (जैसा कि मृत्यु के पूर्व दम घुटने से होता है) और दोनों अपने-अपने स्वरूप को त्याग की लय होने लगते हैं। यही प्राण-अपान की गति-निरोध रूप तीसरा यज्ञ है।

4. चौथे केवल कुम्भक के सिद्ध होने पर श्वास-प्रश्वास किसी भी अवस्था में स्वयं रूकने लगते है और श्वास-गति का निरोध होने से प्राणशक्ति का निरोध होता है। पाँचों प्राणों का निरोध होने से शरीर का समस्त व्यापार रूककर प्राण का समष्टि उत्थान होता है और समाधि लगने लगती है। ऐसे योगी मिताहार करके दीर्घकाल तक समाधि का आनन्द लेते हैं। यही प्राणों की प्राणों में आहुति देना है। इस चौथे का तीसरे से इतना भेद है कि केवल

कुम्भक में प्राण सब चक्रों में एकदम विलीन होने लगेगा। इन चारों ही रीतियों में प्राण सुषुम्ना में चढ़ता है।

शक्ति के जागकर क्रियावती होने पर चारों प्रकार के प्राणायाम बिना यत्न के अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति का आधार लिए बिना ही सिद्ध होने लगते हैं। श्रीमत्शंकराचार्य जी ने भी योगतारावली में केवल कुम्भक का सुन्दर वर्णन किया है जो पाठको के अवलोकनार्थ नीचे उद्धत किया जाता है।

बन्धत्र्याभ्यास विपाकजातां, विवर्जितां रेचकपूरकाभ्यरम्।।
विशोषयन्तीं विषयप्रवाहं, विद्या भजे केवलकुम्भरूपाम्।8
प्रत्याहृतः केवल कुम्भकेन, प्रबुद्धकुण्डल्युपभुक्तशेषः।
प्राणः प्रतीचीन पथेन मन्दं, विलीयते विष्णुपदान्तराले।।12

–'मूल, उड्डयान और जालन्धर, – तीनों बन्धों के अभ्यास की परिपक्व अवस्था होने पर प्रकट होन वाली उस केवलकुम्भक रूप विद्या का मैं भजन (साधन) करता हूँ जो रेचक और पूरक से वर्जित है और सब विषयों के प्रवाहों को सुखा डालती है।

–'केवलकुम्भक के द्वारा खींचा हुआ प्राण,– जो जागी हुई कुण्डलिनी के भोजनोपरान्त शेष बच गया है,– धीरे-धीरे सुषुम्ना के पश्चिम मार्ग द्वारा विष्णुपदस्वरूप अन्तराल में लय हो जाता है अर्थात् सहस्रार में चढ़कर परब्रह्म में लय हो जाता है।'

24. तदा पश्चिमतो वेधाच्चित्तलयः।

तब सुषुम्ना के मार्ग का वेध होने से चित्त की लयावस्था आती है।

25. सिद्ध मंत्राणामाप्ति मातृका-संबोधात्।

मातृका शक्ति के जागने के कारण सिद्ध मन्त्रों की प्राप्ति होती है।

मातृका शक्ति कुण्डलिनी का वह स्वरूप है जिसमें शब्द और पदों की रचना सहित अकार से क्षकार तक वर्णमाला वैखर वाणी द्वारा प्रकट होती है। इसलिए कुण्डलिनी को सरस्वती भी कहते

हैं। सरस्वती के सिद्ध होने पर मन्त्रों एवं पदों का स्वयं विकास होने लगता है और योगी में व्याख्यान देने अथवा रचने की शक्ति आ जाती है।

26. अष्टांगयोग सिद्धिश्च।

और अष्टांग योग की सिद्धि होती है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि- आठों अंग धीरे-धीरे पुष्ट हो जाते हैं। यदि 12 घण्टे क्रियाओं का वेग चलता रहे तो एक घण्टे की धारणा, 5 मिनट का ध्यान तथा 25 सैकेण्ड की समाधि होती है- ऐसा अनुमान है तदनुसार ही नीचे के अंग भी उत्तरोत्तर पुष्ट होते हैं।

27. महायोगोदया वा।

अथवा यह कहें कि महायोग का उदय होता है।

28. नृत्यति गायति हसति रोदति च

और साधक नाचता है, गाता है, कभी हँसता है, कभी रोता है।

29. प्रणवादिनामोच्चारणां गानं कीर्तनम् च।

प्रणवादि नामों का उच्चारण गान और कीर्तन करता है।

30. दिव्य भावैर्मत्तो भवति।

31. रौद्रादिभवैरपि सम्पन्नो भवति।

दिव्य भावों में मस्त हो जाता है और दौद्रापि भावों से भी युक्त होता है।

रौद्र, अद्भुत, श्रृंगार, हास्य, वीर, करूणा, भय, घृणा (वीभत्स) और सप्रेम भक्ति अर्थात् शान्त, - ये 9 भाव हैं।

उक्त 9 प्रकार के भाव कभी-कभी आते है। इनके अतिरिक्त शिवभाव, दिव्यभाव और ब्रह्मभाव आदि भी होते हैं। इन भावों के आने से मनुष्य उत्मत्तवत दीखने लगता है। यही ज्ञानी की अवस्था है, क्योंकि इस अवस्था में जीवभाव स्वल्प अथवा नहीं सा हो जाता है।

32. भक्त्या परयाऽविष्टों भवति।

परा भक्ति के आवेश में आ जाता है।

33. करोति सिद्ध दर्शनमिष्टदेवदर्शनंच।

सिद्धों और इष्टदेव के दर्शन करता है।

34. ऊर्ध्वरेताश्च भवति।

और ऊर्ध्वरेता हो जाता है।

यह बात तो सब जानते हैं कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है और वीर्य की रक्षा का नाम ही ब्रह्मचर्य है। परन्तु 'वीर्य' की रक्षा किस प्रकार होती है? यह बात बहुत कम लोग समझते हैं। बहुधा डॉक्टरों का कथन है कि वीर्य की रक्षा के लिए काम के वेग को रोकने से नाना प्रकार के रोगों के होन की सम्भावना होती है। इसका अर्थ यह है कि बनने के पश्चात् वीर्य बाहर निकलने की प्रवृत्ति रखता है। और उसको रोकने से हानि होती है। परन्तु अतिविषयासक्ति में अस्वाभाविक रीति से अनावश्यक परिणाम में वीर्य बनाकर नष्ट कर देने से ओर भी अधिक हानि होती है। ऐसे मनुष्य यक्ष्मा जैसे भंयकर रोगों का आवाहन करते हैं।

यह बात निश्चित है कि विषयासक्ति में अस्वाभाविक रूप से वीर्य बनाने से शरीर की धातुओं पर कुठाराघात होता है। क्योंकि उनका सत्व जबरदस्ती खींचा जाता है परन्तु जो वीर्य स्वाभाविक रूप से बनता है, यदि उसकी रक्षा हो सके तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का लाभ उठाया जा सकता है। डॉक्टरों के मत के अनुसार वीर्य की उत्पत्ति इस प्रकार होती है कि जब पुरूष को काम का वेग उत्पन्न होता है, तब उसके रूधिर का प्रभाव अण्डकोषों की ग्रन्थियों में आने लगता है। वहाँ पर उन ग्रन्थियों में से निकलने वाले एक प्रकार के रस के रासायनिक प्रयोग से (Chemical action) रूधिर के रक्त वर्ण कीटाणु वीर्य के श्वेत कीटाणुओं में परिणत हो जाते हैं जिनको अंग्रेजी में (Spermatozoa) कहते हैं।

उपरोक्त वीर्य के श्वेत कीटाणुओं में जनन-शक्ति होती है। यदि वे बाहर निकाल दिये जायें तो कोई हानि नहीं होती, क्योंकि उनका कार्य बाहर निकलकर स्त्री के गर्भाशय में गर्भस्थिति करना ही है। यदि कोई पुरूष उसको रोकता है तो स्वप्नदोष और प्रमेह आदि रोग होने की सम्भावना रहती है। ऐसी अवस्था में ब्रह्मचर्य पालन का क्या तात्पर्य है? यह बात विचारणीय है। हमारे महर्षियों का कथन है कि वीर्य प्राणशक्ति ही है। और वीर्य के नष्ट होने से प्राणशक्ति का ह्रास होता है। अपान शक्ति का उत्थान होने पर, उदान रूपी अग्नि का योग होने से वीर्य की प्राणशक्ति ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है। ऐसे योगी का वीर्य स्खलित नहीं होता और मैथुनकाल में स्खलित होने पर भी उसका ब्रह्मचर्य नष्ट नहीं होता।

-बज्रौली' मुद्रा की सिद्धि होने पर तो उदान के वेग के कारण स्वप्नदोष द्वारा स्खलित होकर इन्द्रिय में उतर आया हुआ अथवा मैथुन द्वारा बाहर पात हुआ वीर्य भी पुनः ऊपर चढ़ जाता है। ऊपर जाकर वह लौटकर वीर्याशय या मूत्राशय में प्रवेश नहीं कर सकता वरन् उदान शक्ति की उष्णता से योनिस्थानस्थ रूधिर में मिल जाता है और प्राण का वेग सुषुम्ना में ऊर्ध्व-प्रवाह करने लगता है। योगियों ने इस क्रिया को रज-वीर्य का योग माना है-

योनिस्थाने महाक्षेत्र नपाबन्धूकसन्निभम्।
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्वं समाहितम्।।
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।

-योगशिखो0

-योनि-स्थान रूपी महाक्षेत्र में, जवा कुसुम के वर्ण का रज हर एक जीवधारी के शरीर में रहता है। उसको देवी तत्व कहते है। उस रज और वीर्य के योग से राजयोग की प्राप्ति होती है अर्थात् दोनों के योग का फल राजयोग है।

गुदा और उपस्थ के मध्य में सींवनी के ऊपर त्रिकोणाकृति

नरम स्थान है जिसको योनि-स्थान कहते है: वहीं पर वीर्य चढ़ने से उष्णता उत्पन्न होती है जो वीर्य और रज की रासायनिक क्रिया की सूचक होती है।

गलितोपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले।
ज्वलितोपि यथा बिन्दुः संप्रापतश्च हुताशनम्॥
ब्रजत्यूर्ध्व हठा च्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।
स एव द्विविधों बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा।
पाण्डुरं शुक्रमित्याहु र्लोहिताख्यं महारजः।
विद्रुमद्रुम संकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः।
विद्रम द्रुम संकाश योनिस्थाने स्थितं रजः।
शशि स्थाने बसेद्विन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्॥

-योग चूड़ामणि उपनिषत्, ध्यान बिन्दु उपनिषत् गलित होने पर जब वीर्य योनिस्थान में पहुँचता है तो वहाँ अग्नि में गिरकर जलता हुआ वह वीर्य योनि मुद्रा के अभ्यास से हठात् ऊपर चढ़ा लिया जाता है। वह बिन्दु दो प्रकार का होता है, -श्वेत और रक्त। श्वेत को वीर्य और लाल को रज कहते है। मूँगा के रंग का रज योनि-स्थान में रहता है और वीर्याशय रूपी चन्द्रस्थान में वीर्य रहता है। इन दोनों का मिलाप बड़ा दुर्लभ है। (यहाँ योनि का अर्थ पुरूष का उपरोक्त योनिस्थान है)।

वास्तव में वीर्य प्राण और ओज का स्थूल शरीर है। प्राण अथवा ओज के ऊर्ध्व गमन करने पर यदि कभी वीर्य स्खलित भी हो जाय तो उससे ब्रह्मचर्य में बाधा नहीं आती। ऐसे योगी गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए भी ब्रह्मचर्य का ही पालन करते हैं। पूर्वकाल के वशिष्ठ, याज्ञवलक्यादि सब ऋषि-मुनि गृहस्थी ही थे। प्रश्नोपनिषत् में कहा है -

प्राणं एते प्रस्कन्दति ये दिवा रत्या संयुज्यते।
ब्रह्मचर्यमेव तद्रात्रौ रत्या संयुज्यते॥

–प्रश्न0 1, 13

–जो दिन में रति कर्म करते हैं, उनके प्राण नष्ट होते हैं और जो रात्रि में रति कर्म करते हैं, वे ब्रह्मचर्य में ही रहते हैं। क्योंकि दिन मे सूर्य की प्राणशक्ति है, रात्रि में नहीं।

कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर प्राण–अपान के स्वाभाविक ऊर्ध्वगामी हो जाने के कारण उनके ब्रह्मचर्य में बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि उनकी प्राणशक्ति का ऊर्ध्व प्रवाह सतत् बना रहता है। जिनकी कुण्डलिनी शक्ति नहीं जागी है, वे लोग यदि अभ्यास करके वीर्य को ऊपर खींच भी लें तो वह रज से न मिलने के कारण मूत्र के साथ बाहर आ जाता है। इसलिए हठयोग प्रदीपिका में लिखा है बिना कुण्डलिनी जागे बज्रौली और खेचरी मुद्राएँ सिद्ध नहीं होती।

ऐसे योगियों को ऊर्ध्वरेता कहते है। साधारण लोगों को भी वीर्य–रक्षा करने से लाभ होता है, क्योंकि उनके प्राण और ओज का थोड़ा–बहुत ऊर्ध्व प्रवाह होता ही है। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए बहुत आवश्यक है कि मन में काम का विकार ही उत्पन्न न होने दिया जाये। विकार आने पर वीर्य बनना अनिवार्य है और बनने के पश्चात् वीर्य की रक्षा करना अति कठिन है।

35. ततः खेचरीसिद्धी।

उस (ऊर्ध्व रेता होने) से खेचरी की सिद्धि होती है। खेचरी का अर्थ प्राण का आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) में गमन करता है।

36. वीतराग विषयलम्।

वीतराग विषयत्व होता है।

पाँचों क्लेश तनु होने लगते हैं और मनुष्य के राग, द्वेष, भय, काम, क्रोध, मोह आदि का वेग शिथिल होकर क्षीण हो जाता है। अन्त में सब मल नष्ट हो जाता है। क्योंकि प्राणों के ऊर्ध्वगामी होने से इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होने लगती है, और विषयों से उपरत हो जाता है।

37. सूर्येन्दुवन्हि दीपशिखा विद्युत खद्योत् नक्षत्रादीनि ज्योतींषि पश्यति

सूर्य, चन्द्र, अग्नि, और दीप-शिखा, बिजली, जुगनू, नक्षत्र इत्यादि ज्योतियाँ दिखायी पड़ती है। उक्त दर्शन तीन प्रकार से होते हैं- (1) बहिर्दृष्टि- आँखें खोले हुए बाहर (2) मध्य दृष्टि- नेत्र बन्द करके ध्यान में, दृष्टा-दर्शन और दृश्य की त्रिपुटीयुक्त, (3) अन्तर्दृष्टि- समाधि की सी अवस्था में।

38. ब्रह्माणि तदभिव्यक्तिकराणि श्रुतेः।

ये ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराने वाली है, श्रुति भी प्रमाण है।

श्वेताश्वत्तर उपनिषद में इनका वर्णन मिलता है कि ऐसे दर्शन चेतनस्वरूप आत्मदेव अथवा ब्रह्म के हैं आत्मा और ब्रह्म तो अव्यक्त है, परन्तु उनकी उक्त अभिव्यक्ति चित्त की उपाधि के ही कारण होती है।

39. आरम्भ घटा परिचय निष्पत्तिभूमिकोपलब्धिः।

आरम्भ, घटा, परिचय और निष्पत्ति भूमिकाओं की प्राप्ति होती है।

आरम्भ अवस्था- कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ आर अन्तःकरण बहिर्मुखवृत्ति से हटकर अन्तर्मुख होने लगते हैं।

घटावस्था- सुषुम्ना को वेधकर प्राण आनखशिख पूरित होकर सुस्थिर हो जाता है।

परिचय अवस्था- ब्रह्मरन्ध सहस्त्रार में प्राण स्थिर होने से परिचय अवस्था होती है, क्योंकि वहाँ आत्मा का परिचय होता है।

निष्पत्ति अवस्था- जीवन मुक्ति की दशा को कहते हैं।

40. प्रातिभादि विभूतययः।

प्रातिभादि सिद्धियाँ आती हैं।

41. अधिकारी भेदतो न नियमः।

अधिकारी भेद से, यह नियम नहीं है कि उपरोक्त लक्षण सब

में अवश्य ही हों।

42. ता नात्मति चित्त धर्मत्वात्।

चित्त का धर्म होने के कारण वे आत्मा में नहीं होती।

उपरोक्त सब अवस्थाएँ आत्मा की नहीं है, क्योंकि ये सब चित्त के ही धर्म हैं।

43. नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावस्य न भूमिकत्वम्।

नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव स्वरूप आत्मा को भूमिकत्व नहीं होता।

44. आत्मख्यातिरेव।

भूमिकाओं की उत्तरोत्तर प्राप्ति में आत्मा का प्रकाश स्वरूप ज्ञान ही बढ़ता है।

'भूमिकाएँ क्या है?' इसका उत्तर है- चित्त पर उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ आत्मा का प्रकाश।'

45. चित्त संयोगापत्तेश्चेन्न इति न।

यदि शंका की जाय कि - "भूमिकाएँ आत्मा में नहीं होती, चित्त में आत्मख्याति से होती है- इस सिद्धांत में चित्त का आत्मा का साथ संयोग मानना पड़ेगा, इसलिए यह सिद्धांत ठीक नहीं। इसका उत्तर देते हैं नहीं, क्योंकि-

46. संयोगान्नबन्धः।

संयोग का कारण, बन्ध नहीं है।

47. आत्मानि चिदानन्दरूपत्वे द्वयोर्भेदात्।

आत्मा के चित्त और आनन्द रूप होने से, आत्मा और चित्त दोनों में भेद होने के कारण, बन्ध नहीं हो सकता।

आत्मा चेतन है, चित्त जड़। दोनों का सम्बन्ध अथवा संयोग असम्भव है, इसलिए संयोग-जन्य बन्ध नहीं होता।

आत्मा असंग है, इसलिए उसमें भूमिकत्व की असम्भावना है और वे चित्त के ही धर्म है। तो फिर, - उस पर आत्मख्याति कैसी? इसका उत्तर यह है-

48. तत्तु तादाम्य मिथ्या ज्ञानमविकात्।

यह तादात्म्य तो मिथ्या ज्ञान है, अविवेक के कारण।

49. असतिसत्व्यातिर्वा।

अथवा कहो कि 'नहीं होने' में 'होने' की ख्याति है। आत्मा और चित्त की तादात्म्यता तो नहीं हैं, परन्तु ऐसी प्रतीति होती है।

50. समाधौ प्रत्यगात्माभिगमात्तन्निवृत्तिस्तन्निवृत्तिः।

समाधि में, वृत्तियों का सर्वथा निरोध होने पर, आत्मसाक्षात्कार होने से उस अविवेक की निवृत्ति हो जाती है।



ब्रह्मलीन श्री 1008 स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

भूमिका

शिवसूत्र–संज्ञक यह छोटा–सा दर्शनशास्त्र कश्मीरी शैव र्दशन का संक्षिप्त परन्तु अति गहन एवं उपयोगी ग्रन्थ है। विशेषतः शक्तिपात दीक्षा एवं कुण्डलिनी शक्ति के साधनक्रम के महत्व को समझने के लिए यह अपना विशेष स्थान रखता है। लगभग सात सौ वर्ष पहले अभिनव गुप्त नाम के विद्वान हुए है, यह उन्हीं का रचित ग्रन्थ कहा जाता है। अभिनव गुप्त का रचित इसी विषय का एक बड़ा ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' भी मिलता है। इस ग्रन्थ–माला के 12 पाद है। अभिनव गुप्त का नाम शंकराचार्य दिग्विजय में भी आता है जो आसाम के रहने वाले थे जिनको श्री शंकराचार्य पूज्यपाद ने शास्त्रार्थ में परास्त किया था। 'शिवसूत्र' तथा 'तन्त्रालोक' के रचयिता अभिनव गुप्त श्री शंकर भगवदपाद से बहुत पश्चात् हुए है।

इन के इस दर्शन को उन्मेषवाद कहा जा सकता है। जिसे श्री भगवद्पाद के विर्तवाद का स्पष्टीकरण कहा जाये तो अनुचित न होगा। यह दृश्य प्रपञ्च वेद में धाता के संकल्प अथवा समवर्तन का परिणाम कहा गया है जैसा कि 'यथा धाता पूर्वमकल्पयत्', 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि' 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे', इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। ब्रह्म का सृष्टि के रूप में विशेष रूप से या सम रूप से वर्तमान होना ही विवर्तन या समवर्तन है।

इस दर्शन में सृष्टिक्रम को पाँच कलाओं के क्रमानुसार उन्मेष संज्ञा दी गई है। उन्मेष का अर्थ नेत्र खोलना है, परन्तु पारिभाषिक अर्थ में ज्ञान का प्रस्फुरण समझना चाहिए। जैसे स्वप्न की सृष्टि

स्वप्न-द्रष्टा के आत्मदेव का उन्मेष है, वैसे ही दृश्य जगत् धाता के संकल्प का उन्मेष है। आत्मा के चित्स्वरूप को ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी की अपेक्षा से 'ज्ञः' कहा जाता है। ज्ञः से त्रिपुटी का युगपद उदय-अस्त होता है। त्रिपुटी के उदय को ज्ञः का उन्मेष कहते है। ज्ञः सदा स्थिर रहता है, त्रिपुटी के यांग से उस में स्पन्दन अथवा कम्प नहीं आता। यह त्रिपुटी जीव के बन्धन का कारण बनती है। ईश्वर को बन्धन नहीं होता क्योंकि जाग्रति में जीव का ज्ञेयोन्मेष ईश्वरीय प्रपञ्चरूपी ज्ञेयोन्मेष के निमित्त से नित्य सत्य भासने लगता है। 'त्रिस्त्रों मात्रा मृत्युमत्यः' (प्र0उ0, 5-6) इत्यादि में इन्हें तीन मात्रा कहा गया है जो मृत्युमती है।

दोनों में यह भी अन्तर है कि हमारा स्वप्न शक्ति-रहित है, इसलिए उसकी कोई सत्ता नहीं, परन्तु सर्वशक्तिमान् का उन्मेष सशक्त है क्योंकि उसका संकल्प शक्तियुक्त हैं इसके लिए ब्रह्मसूत्र देखिये जिसमें कहा है - 'अर्थवती हि सा'। सर्वशक्तिमान् की शक्ति पूर्ण है। वह पूर्ण सृष्टि करके पूर्ण ही बची रहती है- 'पूर्णमिदः पूर्णमिदं'। पूर्ण बची हुई शक्ति को अथर्ववेद में 'उच्छिष्ट ब्रह्म' और पुराणों में शेषनाग कहा है। शेषनाग को विश्व की कुण्डलिनी कहा जा सकता है।

सब प्राणियों के देह भी पूर्ण है- 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'। व्यष्टि रूप से सब देहों में देह की रचना कर के जो शक्ति बची रहती है, उसे तन्त्र शास्त्रकारों ने कुण्डलिनी की संज्ञा दी है। वह भी प्रत्येक मनुष्य में पूर्ण है।

शैव दार्शनिक ब्रह्म को परम शिव कहते है। उस के उन्मेष

की प्रथम कला में शिव शक्तियुक्त होता है। इसलिए इस कला में शिव-शक्ति दोनों प्रथम शान्तातीता कला के दो तत्व कहे जाते है। शक्ति की शिव में अभिव्यक्ति की स्थिति को तीसरा सदाशिव कहा है जिये 'अर्धनारी नटेश्वर' भी कहते है। इस स्थिति को द्विदलीय बीज के सदृश्य समझा जाता है। फिर शक्ति शिव से पृथक् हो जाती है। शिव भाव को ईश्वर और शक्ति को शुद्ध विद्या कहा गया है। इन तीन तत्वों को शान्ति कला का अंग माना गया है। शक्ति फिर क्रिया-शीला होती है, क्रिया में गति, गति से काल, परिणति से कला और उनके क्रम से नियति,- इन तीन तत्वों का उदय होता है। शिव को चिन्मय और शक्ति को आनन्दमयी समझना चाहिए। इसी अभिप्राय से 'सच्चिदेकं ब्रह्म' ज्ञान रूप शिव और चिदानन्द लहरी रूपा शक्ति है जिसे गीता में अध्यात्मभाव और भूताभाव कहा गया है-

अक्षरं ब्रह्म परमं, स्वभावोऽध्यात्म उच्यते।
भूत भावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः।।

– गीता 8, 3

अध्यात्मभाव अहम् के रूप में और भूतभाव इदम् के रूप में व्यक्त होता है। परमशिव ज्ञानरूप चिन्मय ज्ञः है। जिसमें उन्मेष होने पर अहम्-इदम् विमर्ष का उदय होता है। इद्म में काल, कला नियति के योग से अहम् रूपी द्रष्टा के बहिर्ज्ञान में तीनों की दीवारें-सी खड़ी हो जाती है। यद्यपि शिव के विमर्ष ज्ञान में सर्वज्ञता रहती है, पर जीव-भाव में वह सीमित एकदेशीय हो जाता है, इसलिए यह तीनों माया के अंग माने गयो है, क्योंकि यह ज्ञान को माप में ड़ाल देती है।

तीनों तत्वों के विमर्ष को यहाँ विद्या कहा है जिसके राग में पड़ कर शिव का अंश रूपी जीव पुरूष माया–बद्ध दीखने लगता है।

काल, कला, नियति, विद्या और राग, जीव पर आवरण के सदृश्य होने के कारण, पाँच कञ्चुक (कैचुली) कहलाते है। माया, 5 कञ्चुक और पुरूष सहित विद्या कला के सात तत्व होते है। शक्ति की अव्यक्त दशा से महत् तत्वादि सांख्य के 24 तत्व इस शास्त्र को यथावत् मान्य है। अन्तिम पृथिवी को निवृति कला और 23 तत्वों को प्रतिष्ठा कला के अन्तर्गत कहा जाता है। ये 24 तत्व अशुद्ध तत्व और विद्या कला के 7 तत्व शुद्धाशुद्ध तत्व कहलाते है।

'जीवो ब्रह्मैव न परः' – जीव ब्रह्म ही है, अन्य नहीं। 'ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः' – जीव लोक में मेरा ही सनातन अंश जीव कहलाता है (गीता)। वह इन्द्रियों और मन से युक्त हो कर संसार में सुख–दुःखें का भोक्ता होता है। शिवसूत्रों में माया द्वारा जीव के बन्धन का कारण ज्ञेय रूप प्रपञ्च का ज्ञान कहा गया है – 'ज्ञानं बंधः'। मानो आत्मा के ज्ञान को माया के पाँच कञ्चुक आवृत करके अहम्–मम रूपी पाश में बाँध देते है। इसीलिए यहां जीव को पशु और शिव को पशुपति कहा है। कुण्डलिनी शक्ति जागने पर तत्वों की शुद्धि करके जीव को पाश–मुक्त करती है। पाँचों कलाओं का नामकरण उनके अंग.स्वरूप तत्वों की शुद्धि के अनुसार ही किया गया है अर्थात् भोगों से निवृत्ति द्वारा निवृत्ति द्वारा निवृत्ति कला की शुद्धि होती है, शक्ति की प्रतिष्ठा द्वारा अव्यक्त तत्व की शुद्धि होती है। विद्या कला की शुद्धि विद्या द्वारा, शान्ति कला की शान्ति द्वारा और शान्तातीता की शुद्धि शान्तातीता द्वारा होती है।

जैसा कि शिवपुराण की वायवीय संहिता के अध्याय 29 में कहा गया है –

प्रापिका व्यापिका शक्तिः पञ्चतत्व विशोधनात्।
निवृत्या रूद्रपर्यन्ता स्थितिरण्डम्य शोध्यते ॥ 21
प्रतिष्ठया तदूर्ध्वन्तु यावदव्यक्त गोचरम् ।
तदूर्ध्व विद्यया मध्ये यावद्विद्येश्वरावधि ॥ 22
शान्त्या तदूर्ध्वमध्वान्ते विशुद्धि शान्त्यतीयतया।
यमाहु' परमं व्योम परप्रकृति योगतः ॥ 23

व्यापिका शक्ति 5 तत्वों का शोधन करने के कारण प्रापिका कही जाती है। व्यापिका और प्रापिका दोनों 'आप्=पाना' धातु के रूप है। जो व्यापक होते हुए भी मिलती नहीं, दृष्टिगोचर अथवा अनुभवगम्य नहीं होती, वही जब तत्वों का शोधन करने लगती है, तब अनुभव में आने लगती है अर्थात् व्यापिका से सुप्तावस्था और प्रापिका से जाग्रतावस्था समझना चाहिए। जाग कर कुण्डलिनी शक्ति किस क्रम से तत्वों का शोधन करती है, यह यहाँ बताया गया है। 36 तत्वों को 5 कलाओं में उनके शुद्धि-क्रम के अनुसार रखा गया है और कलाओं का नामकरण भीर उसी दृष्टि में किया गया है। शक्ति के जागने पर क्रियावती, कलावती, वर्णमयी और वेधमयी – चार रूप कहे गये है। विभिन्न क्रियाएँ स्वतः कराती है – इसलिए क्रियावती, पाँचों कलाओं का रूप धारण कर तत्वों की शुद्धि करती है– इसलिए कलावती, मातृका शक्ति के रूप में व्यक्त होने से वर्णमयी और षट्चक्र वेध करने से वेधमयी नाम दिये गये है।

शक्तिपात् द्वारा दीक्षित साधकों का अनुभव है कि शक्ति

जागने पर विषय-भोगों से वृत्ति हटने लगती है अर्थात् निवृत्ति आ जाती है। फिर शक्ति प्रतिष्ठित हो कर अपना परिचय कराती है। मातृका शक्ति सरस्वती के रूप में व्यक्त हो कर विद्या प्रदान करती है और शान्ति एवं समाधिरूपा शान्त्यातीता तक ले जाती है। तन्त्रालोक में अभिनव गुप्त कहते हैं कि ब्रह्म तत्व कल्पनातीत है, अतः उसे प्राप्त करने का साधन भी कल्पनातीत होना चाहिए, - और वह है कुण्डलिनी की जागृति।

भावनोपनिषद् में क्रिया शक्ति को पीठ, ज्ञान शक्ति कुण्डलिनी को गृह और इच्छा शक्ति को महात्रिपुरसुन्दरी कहा गया है। विषयभोग पार्थिव है, अतः निवृत्ति कला के अन्तर्गत है तथा प्रथम 23 तत्व प्रतिष्ठा कला के अन्तर्गत है। प्रतिष्ठा कला में शक्ति का ज्ञानरूप विकसित होता है, इसलिए उसे घर मानना चाहिए। विद्या को रागयुक्त होने से अशुद्ध और रागमुक्त होने से शुद्ध कहते है। शुद्ध विद्या का स्थान शान्ति कला है। शुद्ध विद्या को ही महात्रिपुरसुन्दरी कहा गया है।

निवृत्ति का अर्थ भोगों का त्याग नहीं, वरन् आसक्ति अथवा राग का न होना है, इसलिए दीक्षा लेने और कुछ अंश में शक्ति की जाग्रति होने पर यदि साधक निवृत्तिपरायण नहीं होता तो शक्ति में अप्रतिष्ठा के कारण उसकी शक्ति शिथिल हो जायेगी। यह शिकायत बहुधा सुनने में आती है और विषयासक्ति बनी रहने से न विद्या में शुद्धि आती है और न शान्ति ही मिलती है। इसलिए प्रत्येक साधक को निवृत्ति-परायण होना कितना आवश्यक है, यह समझना कठिन नहीं है। ईश्वर-शरणागति को भी निवृत्ति का ही प्रारम्भिक पग

समझना चाहिए जो आगे चल कर 'ईश्वर-प्राणिधान' का रूप धारण कर लेती है। निवृत्ति द्वारा रूद्रपर्यन्त स्थिति का शोधन कहा है। रूद्रों का कार्य रूलाना है। वास्तव में विषय-सुखों की इच्छा ही रूद्र है और इच्छा का न होना, तनु अर्थात् कम होना, निपवृत्ति कहलाता है।

निवृत्ति का दार्शनिक रूप उपर्युक्त प्रश्नोपनिषद् की श्रुति में दिखाया गया है। वहाँ कहा गया है कि त्रिपुटी मृत्युमतो है क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय से बर्हिमुखी एवं मध्य स्र्थिति की क्रियाओं में ज्ञान और इसके विपरीत ज्ञेय ज्ञान से और ज्ञान ज्ञाता से युक्त होकर अभ्यन्तर्मुखी क्रियाओं में एक दूसरे से आसक्त रहते हैं, यद्यपि उनके घनिष्ट युक्त होने पर भी ज्ञः कंपित नहीं होता। मध्य स्थिति से संकल्पात्मिका और अभ्यन्तर से ध्यान समझना चाहिए। मृत्यु का स्थान देह है, ज्ञः आत्मा अमर है। इसलिए त्रिपुटी की अन्योन्यासक्ति के विच्छेद को निवृत्ति समझना चाहिए। यदि ज्ञान, ज्ञेय की आसक्ति टूट ्जाय तो ज्ञाता ज्ञान से तटस्थ रहने लगे अथवा आत्मस्थित होकर संकल्पों का त्याग कर दे तो वह देहासक्ति रूपी बन्धन से मुक्त हो जाएगा। यही अमरत्व प्राप्ति है।

इस श्रुति के आगे उपनिषद् ऊँकार की उपासना को तीनों की अन्योन्यासक्ति के विच्छेदनार्थ साधन बताता है और अकार को ऋग्वेद रूनी ज्ञेय, उकार को साम वेद रूपी ज्ञान और मकार को यजुर, रूपी ज्ञाता कह कर इनको तीन मात्राओं की संज्ञा देता है। श्रुति इस प्रकार है –

तिस्त्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता
अन्योन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ताः ।

क्रियासु वाह्याभ्यन्तर मध्यासु
सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥

– प्रश्नोपनिषद् 5, 6

त्रिपुटी के रहते ज्ञः रूपी आत्मा का अनुसन्धान ही योग कहलाता है। गीता में श्री भगवान् कहते है –

शनैः शनैः उपरमेत् बुद्धया धृति गृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचदपि चिन्तयेत् ॥

पूज्यपाद शंकराचार्य कहते है– 'एष योगस्य परमो विधिः।' आत्मस्थित होकर कुछ भी न सोचना तभी संभव है जब मन–बुद्धि विषयों से सर्वथा उपरत हो जाएँ। शक्ति जाग कर, साधक में एक अपूर्व आनन्द की लहर जगा कर, मन को अन्तर्मुखी करती है ओर विषय–भोगें से चित्त को हटाने लगती है। यह प्रायः सब साधकों का अनुभव है।

प्राक्कथन

शिवसूत्र काश्मीरी शैव-सम्प्रदाय का श्री अभिनव गुप्त-रचित सात-आठ सौ वर्ष पुराना 77 सूत्रों का एक छोटा सा शैव-दर्शन है। अभिनव गुप्त का ही रचित एक अन्य शक्तिपात् विषयक 12 खण्ड़ों का वृहद् ग्रन्थ तंत्रालोक भी मिलता है। उसी विषय को लेखक ने केवल 77 सूत्रों में ही भर दिया है।

इस दर्शन में तीन उन्मेष हैं जिनके नाम क्रमशः शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय और आणवोपाय दिये गये है। तीनों उन्मेषों के अन्त में 'उपाय' शब्द इस बात का द्योतक है कि ये किसी लक्ष्य की प्राप्ति अथवा सिद्धि के लिए एक विशेष साधनक्रम का प्रतिपादन करते हैं और तीनों उन्मेष साधक की तीन अवस्थाओं के अनुसार, – जिनको आणव, शाक्त एवं शाम्भव संज्ञा दी गई है, – पूरे साधनक्रम को तीन स्तरों में विभक्त करते है। इसलिए सर्वप्रथम तीनों स्तरों का भेद और साधन की मानसिक एवं आध्यात्मिक अवस्था, जिसके आधार पर उक्त स्तरीय भेद माने गए है, समझने आवश्यक है। उन्मेष के बारे में आगे यथा-स्थान विचार किया जायेगा।

शाम्भव से ब्रह्म या शिवभाव, शाक्त से शक्तियुक्त भाव और आणव से अल्पज्ञ जीव भाव समझना चाहिए। ब्रह्म अथवा परम शिव सत्-चित्-आनन्द रूप सब को मान्य है और जीव उसका अंश रूप है अर्थात् शिव और जीव में सजातीय भिन्नता न होकर अंश-अंशी का सम्बन्ध है। शिव सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ। दोनों में अन्तर केवल ज्ञान की मात्रा का है।

आणवोपाय कहता है कि जीव अपने वास्तविक ज्ञान स्वरूप को भूलकर अपने चित्त को आत्मा समझने लगा है, –जैसे ओस के कणों पर चमकने वाला प्रकाश अपने को ओस का कण मानने लगे। आणवोपाय का साधन इस भ्रान्ति को हटा कर साधक को अपने वास्तविक शिवस्वरूप का ज्ञान कराना चाहता है। जीवावस्था में विभु शाम्भव ज्ञान चित्त से तादात्म्य करके चित्त के संस्कारों के तद्रूप सीमित रहता है और अहंतावश उतनी ही शक्ति और ज्ञान के आधार पर कर्तृत्व और भोक्तृत्व अभिमानवश अनेक कर्म–विपाकों के जाल में फँसा रहता है।

चित्तात्मक ज्ञान विभु का अंश मात्र होने से आणव कहलाता है। यहाँ एक बात विचारणीय है कि शास्त्रों का कहना है और महान् पुरूषों का अनुभव है कि जीव के साथ ईश्वर भी रहता है। प्रश्न यह है कि ईश्वर के ज्ञान पर, जीव के सदृश्य, चित्त के संसर्ग से अणुत्व क्यों नहीं आता, यद्यपि दोनों समान रूप से एक साथ रहते है? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि जीव माया के अधीन अपने स्वरूप को भूल जाता है, ईश्वर माया के साक्षी रूप से तटस्थ रहता है। इसीलिए पशुपति कहा गया है।

अब स्वाभाविक प्रश्न होता है कि माया क्या वस्तु है और उसका स्वरूप क्या है ? वेदान्त पक्ष वाले कहते हैं कि 'मा' नहीं है, 'या' जो, – वह माया है। परन्तु यह अभावात्मिका व्याख्या पूर्णरूपेण शंका का समाधान नहीं कर सकती। शैव दार्शनिक के अनुसार 'मा' मापने के अर्थ में है, जो विभु को माप में ड़ाल देती है, वह अज्ञानात्मिका माया है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं, वरन्

अपूर्ण ज्ञान के अर्थ में लेना चाहिए। देश, काल और नियति, जिनका अस्तित्व तात्विक न होने पर भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता, ज्ञान को अपने क्षेत्र में सीमाबद्ध कर देते है। इस अपूर्ण दृष्टि को माया मल, आणव मल तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्व मल से आवृत कहा जाता है।

कुण्डलिनी शक्ति की जागृति होने पर शाक्तोपाय आरम्भ होता है। शक्तिपात दीक्षा प्राप्त साधकों को यह बताने की-आवश्यकता नहीं कि कुण्डलिनी के जागने पर शक्ति स्वयं क्रियाएँ करने लगती है। इसीलिए इसे क्रिया-योग भी कहते है। आणवोपाय का साधक जो क्रियाएँ सप्रयास करता है, शक्ति जागने पर वे स्वतः होने लगती है। साधक अनुभव करने लगता है कि उसके अन्तर में वह शक्ति जागृत हुई है जो सब साधनों को पूर्णरूपेण जानती है और उसकी क्रियाओं में किसी त्रुटि का भय नहीं होता। प्रायः देखा जाता है कि हठ-योग से साधकों को बहुधा शारीरिक और मानसिक व्याधियों का शिकार हो जाना पड़ता है जिनका उपचार कभी-कभी असाध्य होता है और जो उनके कर्तत्वाभिमान की असावधानी के कारण होती है। परन्तु शाक्तोपाय के साधकों में ऐसी कोई बात सुनने में नहीं आती। वह देवात्मिका पर शक्ति साधक को उसकी भूमिका एवं बलाबल के अनुसार बिना प्रयास साधन कराती है, क्योंकि शक्ति ज्ञानवती है, 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च' (श्वेताश्वतरोपनिषद्) । इसलिए शक्ति जागने पर जीव का कर्तृत्वाभिमान स्वतः शिथिल होने लगता है, शरणागति का भाव उत्तरोत्तर बढने लगता है और अन्तोगतता कर्तृत्वाभिमान के क्षीण होने पर वह आणव मल से ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार शक्ति उसे

स्वतः शाम्भवोपाय के स्तर पर ले जाती है।

'जीवो ब्रह्मैव नापरः', परन्तु 'आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठ)– आत्मा, इन्द्रियाँ और मन से युक्त होने से भोक्ता कहलाता है। उसका चित्त से तादात्म्यभाव नीचे इन्द्रियों और भौतिक देह तक उतर आता हैं। वह कर्मेन्द्रियों के योग से अपने को कर्ता कहता है, ज्ञानेन्द्रियों के योग से भोक्ता और देहासक्ति के कारण अपने को मरणशील मानता है, परन्तु उसका सत् स्वरूप अमरत्व यही कहता है कि मैं कभी न मरूँगा, – यह शरीर सदा बना रहे। आनन्द का भाव विषयों के सुखों का रूप धारण कर लेता है अर्थात् उसके सत्स्वरूप, चित्स्वरूप आर आनन्दस्वरूप में अणुत्व आ जाता है।

शक्ति जागने पर साधकों को सर्वप्रथम एक अपूर्व आनन्दावेश और मस्ती का अनुभव होता है। घण्टों आसन पर बैठे रहने पर भी उठने को चित्त नहीं होता, क्रियाएँ होती है तो वे भी अपूर्व आनन्द का स्त्रोत बहाने वाली होती है। हँसना, चिल्लाना, रोना, – सब उसे आनन्द–विभोर करते है। इसीलिए श्रीमत् भगवत् पूज्यपाद शंकराचार्य ने स्वलिखित 'सौन्दर्य–लहरी' के श्लोक 8 में कुण्डलिनी शक्ति को चिदानन्द लहरी और श्लोक 21 में परमानन्द–लहरी कहा है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह आनन्द आत्मा का अपना ही स्वरूप है। शक्ति के जागने पर चित्त और आत्मा का तादाम्य, जो अणुत्व का कारण है, शिथिल होने लगता है और आत्मानन्द का आंशिक स्फुरण आरम्भ होता है। साथ ही विषयों से विरति होने लगती है और भोगेच्छा तनु पड़ने लगती है। कर्तृत्वाभिमान के क्षीण

होने से मन संकल्पविकल्पों के स्थान पर स्थिरता का अभ्यस्त होने लगता है और मौन होकर आत्मानन्द के रसास्वादन में डूबा रहना चाहता है। कहा है– 'आनन्दं ब्रह्मणों विद्वान् न विभेति कुतश्चन।'

चिदानन्द में चित् को ज्ञान–स्वरूप शिव–भाव और आनन्द को शक्तिरूपा भगवती का भाव समझना चाहिए। दोनों के एकत्व सम्बन्ध का श्री शंकर भगवद्पाद सौन्दर्यलहरी के 34 वें श्लोक में इन शब्दों में निरूपण करते है –

"शरीरं त्वं शम्भोः शशिमिहिरवक्षोरूहयुगं,
तवात्मानं मन्ये भगवति नवात्मानमनघम् ।
अतः शेषः शेषीत्ययमुभयसाधारणतया,
स्थितः सम्बन्धो वां समरस परानन्दपरयोः ।।

–हे भगवती ! तू शम्भु का शरीर है जिसके वक्षस्थल पर स्तन रूपी दोनों चन्द्र और सूर्य है। मैं निष्पाप भगात्मा (संसार की आत्मा) शंकर को तेरी आत्मा मानता हूँ, इसलिए आप दोनों परानन्द और परमात्मा का साधारणतया शेष (विशेषण) और शेषी (विशेष्य) का सम्बन्ध स्थित है।"

इस प्रकार शाक्तोपाय के आनन्द से ऊपर उठ कर चैतन्य ज्ञानयुक्त शाम्भवोपाय का उदय होता है। शास्त्रकार ने प्रथम उन्मेष में शाम्भव, दूसरे में शाक्त और तीसरे में आणवोपाय को स्थान दिया है। शाम्भवोपाय भी उपाय अर्थात् साधन का अंग होने से शाम्भव अथवा शिव या ब्रह्म भाव को मोक्ष नहीं कहा जा सकता। 'क्यों ?' इसका उत्तर और अन्तिम अवशिष्ट आवरण को हटाने का उपाय ही इस ग्रन्थ के प्रथम उन्मेष का विषय है।

शिवसूत्रप्रबोधिनी

मंगलाचरण

नत्वा कुण्डलिनीं देवी शुद्धविद्या स्वरूपिणीम् ।
लिख्यते साधकेभ्यो अथ शिवसूत्रप्रबोधिनी

प्रथमोन्मेष (शाम्भवोपाय)

शैव-दार्शनिकों की विचारधारा को समझने के लिए 'उन्मेष' शब्द का अर्थ समझ लेना अत्यावश्यक है। इसी अर्थ में 'स्पन्द' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। उन्मेष का सामान्य अर्थ 'नेत्र खोलना' है। आत्मतत्व में भौतिक नेत्र नहीं है, परन्तु वह बिना नेत्रों के ही देखता है, बिना कानों के ही सुनता है- -सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जतम्।' आत्मा के स्वरूप को 'ज्ञः' मात्र कहा गया है अर्थात् ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी की पृष्ठभूमि जिस का आधार 'ज्ञः' है। जब 'ज्ञः' में अध्यात्मभाव 'अहम्' का उदय होता है, साथ ही युगपद 'इदं' का भाव भी आ उपस्थित होता है, तब इन दोनों उदयों का 'अहम् विमर्ष' और 'इदं विमर्ष' कहा जाता है।

विमर्ष का अर्थ समझना या जानना है। 'ज्ञः' ज्ञानस्वरूप है, इसीलिए जब उसमें इन दोनों का उदय होता है, तब ज्ञाता और ज्ञेय का ज्ञान होता है। इस त्रिपुटी के उदय को ही उन्मेष समझना चाहिए। स्वप्न इस का अच्छा उदाहरण है। स्वप्नों का उदय-अस्त सुषुप्ति से हुआ करता है। सुषुप्ति में इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार सब का

कारण-शरीर में लय हो जाता है और आत्मा अपने 'ज्ञः' स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसीलिए सुषुप्ति अवस्था को संप्रसाद कहा गया है। स्वप्न में जगत के दृश्य रूपी ज्ञेय, इन्द्रियों और अन्तःकरण के उदय के साथ उनका अधिष्ठान देह भी दीखने लगता है और 'अहम्इदं' के नाते ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों का निर्माण प्रतीत होता है। यह सब 'ज्ञः' के उन्मेष का ही परिणाम है। स्वप्न के अस्त होने पर स्वप्न का सारा जगत् 'ज्ञः' में विलीन हो जाता है। यह आत्मा का स्वभाव है। धाता के संकल्परूपी उन्मेष से उद्‌भूत इस सृष्टि का भी यही क्रम है जिस के अन्तर्गत हमारा जाग्रत कर शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण एवं बाह्य दृश्य है - 'यथा धाता पूर्वमकल्पयत्।' अब पहले सूत्र का भाव भली प्रकार समझा जा सकेगा -

चैतन्यमात्मा ।। 1

शाम्भवोपाय में साधक अपनी चेतना को आत्मा समझता है। चेतन का भाव चैतन्य है। आत्मा सत्-चित् रूप है। उस की शक्ति को सत्-शक्ति और चित्-शक्ति कहते है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड सारा जगत् सत्-शक्ति का कार्य है। महत्त्व, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर भी सत् शक्ति के ही परिणाम है, किन्तु इन में जो चेतना या चैतन्य-भाव है, वह इन पर पड़ा चिति शक्ति का प्रत्याभास (Reflection) मात्र है। इसीलिए चैतन्य को आत्मा कहना वास्तविकता नहीं है, क्योंकि वह तो चित्त पर आत्मा का चेतन प्रकाश मात्र है। आत्मा तो स्वयंप्रकाश चिन्मात्र है।

शाम्भवोपाय का साधक चित्त और चैतन्य दोनों का अन्तर इस प्रकार अनुभव करता है जैसे कि प्रकाश और प्रकाश्य वस्तु में

अन्तर है। आत्मा प्रकाशक है, चैतन्य उसका प्रकाश और चित्त प्रकाश्य है। शाम्भवोपाय के साधक का लक्ष्य चित्त से हट कर उस पर प्रतिभासित चेतन प्रकाश पर हो जाता है अर्थात् उसे इन की भिन्नता का ज्ञान होने लगता है। आत्मा को 'ज्ञः' और उसके चैतन्यभाव को उस का उन्मेष समझना चाहिए।

ज्ञानं बन्धः ॥ 2

यहाँ ज्ञान का अर्थ ब्रह्म या आत्मज्ञान नहीं, वरन् 'अहमिदम्' विमर्षोन्मेष समझना चाहिए। चित् स्वरूप आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, इसलिए उस के चैतन्य प्रकाश में भी ज्ञान अर्थात् जानने की शक्ति विद्यमान् है। उक्त चैतन्य प्रकाश चित्त से तादात्म्य कर के इन्द्रियादि द्वारा बाह्य विषयों के ज्ञान का ज्ञाता होता है। अतः चित्त की निर्विषयी अवस्था शुद्ध ज्ञान की अवस्था है और बाह्य ज्ञानयुक्त अवस्था सविषयी ज्ञान है जो इदं विमर्षोन्मेष मात्र है। विद्या कला में माया के पाँच कञ्चुक कहे गए है – काल, कला, नियति, विद्या और राग। यहाँ विद्या सविषयी ज्ञान की वाचक है जो काल, कला, नियति का ज्ञान कराउती है। यही विद्या जब रागयुक्त होती है तो बन्धन का कारण होती है। इसीलिए 'ज्ञानं बन्धः' कहा गया है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। चित्त के संयोग से चित्त पर आत्मा का चैतन्यभाव व्यक्त होता है जो बाह्य ज्ञेय की ओर प्रवृत होने के कारण ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी के बन्धन में आ जाता है अर्थात् ज्ञातृभाव में चैतन्य आत्मा चित्त से तादात्मय कर के अपने को ज्ञाता समझता है। इस तरह अणु चित्त से तादात्म्य करने के कारण उस में अणुत्व का ज्ञान तथा चित्त के विषयों के अल्पज्ञान के कारण

अल्पज्ञत्व आ जाता है। यही दोनों बन्धनरूप है।

आगे सूत्र 14 से 17 तक के अनुसार चित्त दृश्य ज्ञेय से हटता हुआ अन्तर्मुखी होता है और शुद्ध तत्व अर्थात् ईश्वर के अनुसन्धान द्वारा शुद्ध विद्या में स्थित होता हुआ ईश्वर और शुद्ध विद्या की विविक्त पृथकता अनुभव करके स्वस्वरूप में स्थित होता है–

योनिवर्गः कला शरीरं ॥ 3

पूर्व सूत्र के साथ इस सूत्र को इस तरह पढ़ना चाहिए- 'बन्धः योनिवर्गः ज्ञानं कला शरीरं ।'

उपरोक्त बन्धन के कारण माया का वर्गीकरण पाँच कञ्चुकों के अनुसार किया जाता है। उसे तीन श्रेणियों में माना गया है– माया मल, आणव मल और कर्तृत्व–भोक्तृत्व मल। इन तीनों मलों के कारण ही बाह्य ज्ञान जीव के लिए बन्धन का कारण होता है। कला, चित्त और शरीर क्रमशः तीनों प्रकार के मलों के कारण होते है। शरीर के द्वारा कर्त्ता और भोक्तापन का उदय होता है, चित्त के द्वारा समष्टिभाव से हट कर व्यष्टिभाव का अणुत्व उदय होता है तथा इन सब का कारण राग–रूपी माया है। पातञ्जल योग दर्शन में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश पाँचों क्लेशयुक्त चित्तवृत्तियों को क्लिष्टा और पंच क्लेश–रहित वृत्तियों को अक्लिष्टा कहा है (यो0 द0 1/5) । पाँच क्लेशों में अविद्या शेष चार क्लेशों की भूमि है। अविद्या माया की ही पर्यायवाची है तंथा अस्मिता चैतन्यभाव है। अभिनिवेश और विरोधी द्वेष दोनों का समावेश राग के अन्तर्गत है।

शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय तथा आणवोपाय में समान रूप से उपरोक्त बन्धन है। शाम्भवोपाय में कर्तृत्व पर्याप्त क्षीण हो जाने के

कारण आणव ज्ञान भी सूक्ष्म हो जाता है। इसलिए –

ज्ञानाधिष्ठानं मातृका ॥ 4

उस के ज्ञान का अधिष्ठान मातृका शक्ति है। कुण्डलिनी के वर्णमयी रूप का नाम ही मातृका शक्ति है जो सरस्वतीरूपा वाक् शक्ति है। वर्णमाला को मातृका कहते है।

शक्ति के तीन रूप होते है – इच्छा शक्ति ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति। भावनोपनिषद् में क्रिया शक्ति को पीठ अर्थात् आधार, ज्ञान शक्ति को कुण्डलिनी और इच्छा शक्ति को महात्रिपुरसुन्दरी कहा गया है। इस सूत्र में मातृका शक्ति से ज्ञान शक्ति कुण्डलिनी अभिप्रेत है। क्रिया शक्ति शाक्तोपाय का विषय है जो दूसरे उन्मेष (अध्याय) में आयेगा। श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रथम अध्याय के तीसरे मन्त्र में इसी को देवात्म शक्ति कहा गया है। छठे अध्याय के आठवें मन्त्र में यह भी कहा गया है–

पराऽस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च।

अर्थात् यह शक्ति परमात्मा की शक्ति है, साधक की नहीं है।

इस सूत्र में यह बताया गया है कि शांभवोपाय के साधन में ज्ञानशक्तिरूपा वर्णमयी कुण्डलिनी का विकास होता है–

उद्यमो भैरवः ॥ 5

उसका साधक भैरव होता है। 'शिवसूत्र विमर्षिणी' में समष्टि चेतना रूपी महत्तत्व को भैरव कहा है। पूज्यपाद शंकराचार्य ने उस में

विभु प्राण एवं विभु बुद्धि दोनों का समावेश किया है जिसे उन्होंने हैरण्यगर्भ प्राण एवे हैरण्यगर्भ बुद्धि कहा है। शांभवोपाय का साधक व्यष्टि से ऊपर उठ कर समष्टि प्राण में प्रवेश करने लगता है।

उक्त शक्ति के जाग्रत होने पर साधक में शक्ति के विभिन्न भाव प्रकट होते है जिनको नवधा भाव (रस) कहा गया है –

'रौद्रोऽद्भुतश्च श्रृंगारों हास्यं वीरो दया तथा ।
भयानकश्च वीभत्सः शान्तः सप्रेम भक्तिकः ॥

रौद्र–भयकारी भाव, अद्भुत–विस्मयजनक भाव, श्रृंगार–रतिजनक भाव, हास्य–हँसी–खुशी का भाव, वीर–उत्साहपूर्ण भाव, वीभत्स–घृणा–व्यञ्जक भाव, सप्रेम–भक्तिभाव और शान्त–नम्र भाव। यही नौ रस है। उक्त शक्ति के जाग्रत होने पर साधक में इन भावों का आवेश समय–समय पर आता है। शान्त भाव को छोड़ कर शेष सब भाव भौरव के रूप कहे गए है। शान्त भाव का उदय शान्ति कला में तीनों के शुद्ध होने के पश्चात् होता है, इसलिए वह भैरव में सम्मिलित नहीं होता। साधक में इन भावों का उदय होना उसके साधनक्रम का अंग है।

यहाँ पर याद रखना आवश्यक है कि आणवोपाय ही यत्नसाध्य है। शेष दोनों उपाय यत्नसाध्य नहीं, शक्तिसाध्य है। शांभवोपाय में शक्ति विभु (हैरण्यगर्भ) प्राण में कार्य करती है, इसलिए कठोपनिषद् में उसे अदिति कहा है – 'या प्राणेन संभवति अदितिर्देवतामयी ।'

शक्तिचक्रसंधाने विश्वसंहारः ॥ 6

सकल विश्व की कृति शक्ति का एक महान् चक्र है, परन्तु साधक

को अपना लक्ष्य शरीरस्थ सुषुम्नागत षट्चक्रों पर ही रखना चाहिए क्योंकि पिण्डस्थ चक्रों का सम्बन्ध ब्रह्माण्ड से है। शक्ति–चक्र का अर्थ षट्चक्र लेना चाहिए। शरीर में जितनी क्रियाएँ होती है, उनका आधार ये चक्र ही है जो सुषुम्ना में स्थित है। पाँचवे सूत्र में जिन भैरव–भावों का उल्लेख किया है, उनका सम्बन्ध भी विभिन्न चक्रों से ही है। शक्ति–जागरण के पश्चात् वे भाव दिव्य रूप धारण कर लेते है जिनका स्तोत्र विभु चेतना से उदित हो कर निम्न स्तर तक प्रावाहित होता हुआ अनुभवगम्य होने लगता है। इन भावों से लक्ष्य हटा कर उनके सम्बन्धित चक्रों का अनुसंधान करने से, उन भावों का विलीनीकरण होने पर, समाधि होती है। समाधि से ही विश्व का संहार अभिप्रेत है। भाव में रस लेना साधन में विघ्न है, अतः उसके वशीभूत न हो कर उसको सुषुम्ना में विलीन कर देना चाहिए। प्रत्येक चक्र पर संयम करने से तत्संबन्धी सिद्धियाँ प्राप्त है, परन्तु वे समाधि के लिए विघ्न है।

जाग्रत्स्वप्नसुषुपितभेदे तुर्योभोग संभवः ॥ 7

समाधि से उतरने पर व्युत्थान दशा में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में तुर्या के आनन्द के सम्भव (साथ रहने) का अनुभव विद्यमान् रहता है। ऐसे साधक का –

ज्ञानं जाग्रत ॥ 8

अनुभूत तुर्या भोग संभवयुक्त ज्ञान साधक की जाग्रत अवस्था है क्योंकि तुर्यावस्था में आत्मस्थिति होती है। ('तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' – योग दर्शन)।

स्वप्नो विकल्पः ॥ 9

वस्तुरहित शाब्दिक ज्ञान को विकल्प कहते है। मन की संकल्प–विकल्पात्मक अवस्था को स्वप्नावस्था समझना चाहिए।

अविवेको माया सौषुत्तम् ॥ 10

माया के पाँच कञ्चुकों से आवृत विवेकरहित ज्ञान ही सुषुप्ति है।

तृतयभोक्ता वीरेशः ॥ 11

इस प्रकार तीनों अवस्थाओं में तुर्या के भोक्ता को वीरेश कहते है अर्थात् वह शिवरूप है। तीनों अवस्थाओं का भोक्ता होते हुए भी उनसे अलिपत रहने के कारण ही उसे वीरेश कहा गया है।

विस्मयो योग भूमिका ॥ 12

विस्मय का अर्थ अहंकार और आश्चर्य दोनों होते है। वीरेश अर्थात् ऐसा साधक जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में अलिप्त रहता हुआ योगभूमिका में पदार्पण करता है, उसे (आश्चर्यजनक दिव्य अनुभव होने के कारण) अहंकार और विस्मय दोनों हो सकते है। उसे इन दोनों से ही बचना चाहिए। इस सम्बन्ध में पातंजल योग दर्शन के विभूति पाद के 51वें सूत्र पर व्यासभाष्य देखें।

इच्छा शक्तिः उमा कुमारी ॥ 13

उक्त योग–भूमिका में स्थित योगी की इच्छा शक्ति को उमा कुमारी माना गया है। उमा और कुमारीं दोनों ही भगवती के नाम है। कुमार धातु का अर्थ बच्चों की तरह स्वाभाविक रूप से क्रीड़ा करना है अर्थात् कुमार और कुमारी बच्चे की उस अवस्था को कहते है

जिसमें वह स्वाभाविक खेल–कूद में मस्त रहता है। जीवनमुक्ति की अवस्था भी 'बालोन्मत्त पिशाचवत्' कही गयी है अर्थात् ऐसे योगी की इच्छा शक्ति सांसारिक भोगों की इच्छा न करती हुई स्वाभाविक क्रीड़ा करती है। उसकी अवस्था ऐसी हो जाती है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्यैव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

– गीता 3, 17

वह आत्मज्ञाननिष्ठ योगी केवल आत्मा में ही रति वाला है, उसका प्रेम विषयों से न हो कर आत्मा से ही होता है। सामान्य मनुष्यों की भाँति वह ब्राह्म विषयों के लाभ से ही संतोष नहीं मान बैठता, अपितु आत्मस्थिति में ही सन्तुष्ट होता है। ब्राह्म विषयों में रमण तो स्वाभाविक है, उस क्रिया में वह रत हो या न हो, इससे उसे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। ऐसा आत्मा में क्रिया करने वाला और आत्मा में ही वास्तविक रमण करता हुआ सन्तुष्ट रहने वाला क्रियावान् पुरूष ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठतम है –

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।

– मुण्डकोपनिषद् 3, 1, 4

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

– गीता 5, 24

जिस पुरूष को अन्रात्मा में ही सुख है, वह अन्तःसुख वाला है तथा अन्तरात्मा में ही जिस की क्रीड़ा होती है, अन्तरात्मा ही

जिसकी ज्योति (प्रकाश) है, वह अन्तर्ज्योति है। ऐसा योगी जीवनकाल में ही ब्रह्मरूप हो जाता है, मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। भावनोपनिषद् में इच्छा शक्ति को महात्रिपुरसुन्दरी अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में आत्मक्रीड़ा, आत्मरमण करने वाली सुन्दरी शक्ति कहा है।

दृश्यं शरीरं ॥ 14

ऐसा योगी शरीर को अपने से भिन्न मानने लगता है अर्थात् उसको देहाध्यास नहीं रहता। सारा शरीर (सकल ब्रह्माण्ड) उसे अपने शरीर का अंगवत् प्रतीत होने लगता है। इस सकल दृश्य को उसका शरीर कहा गया है।

ह्वदये चित्त संघट्टात् दृश्यस्वापदर्शनम् ॥ 15

अर्थात् ह्वदय में चित्त के संघटित होने पर उसे सारा दृश्य स्वप्नवत् प्रतीत होने लगता है। यहाँ चित्त का अर्थ मन लेना चाहिए। तैत्तिरीयोपनिषद् में भी चित्त और मन को पर्यायवाची माना है –

स य एषोऽन्तर्ह्वदय आकाशः ।
तस्मिन्नयं पुरूषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः ॥

– 1, 6, 1

वह जो यह अन्तर्ह्वदय में आकाश है, उसमें यह पुरूष मनोमय है, वह अमृत और हिरण्यमय है। यहाँ मनोमय पुरूष को चित्ताभिमानी पुरूष समझना चाहिए, परन्तु वीरेश होने के कारण वह अमृत हिरण्मय हैं। जब उसका चित्त ह्वदयाकाश में एकाग्र हो जाता है, तब ह्वदय पर संयम द्वारा जगत् उसको स्वप्नवत् दीखने लगता है। जैसे स्वप्न का दृश्य आत्मोन्मेष मात्र ही होता है, परन्तु उसमें ज्ञाता पूर्व

संस्कारों वश काम-क्रोधोद्भव भावों एवं भय से युक्त होकर स्वतः ही सुखी-दुखी होता है और भयातुर हो कर दूसरों से रक्षा चाहता है, यद्यपि वहाँ दूसरा कोई होता ही नहीं। इसी प्रकार जाग्रतावस्था को भी समझना चाहिए। ब्राह्य प्रपञ्च का निमित्त लेकर अपने ही काम-क्रोधादि भावों के उद्भव से पशुवत् बँधकर दूसरों को अथवा दैव को दोष देता है।

शुद्धतत्वानुसन्धानाद्वा अपशुशक्तिः ॥ 16

शुद्ध तत्वों के अनुसंधान से साधक का पशुभाव नष्ट होकर उसमें दिव्यभाव का उदय होता है। शान्ति शान्ति कला के सदा शिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या शुद्ध तत्व कहे जाते है एवं शान्त्यातीता कला के शिव और शक्ति दोनों ही शुद्ध तत्व है। शान्ति कला विद्या कला से ऊपर की कला है अर्थात् शान्ति कला में काल, कला, नियति का ज्ञान न रह कर केवल अखण्ड शान्तिमय भूतिका का अनुभव होता है। यह संकल्प-विकल्प-रहित अवस्था है। इस अवस्था में जीवत्व के तीनों मलों का अभाव हो जाता है। 'वा' शब्द विकल्प वाचक है अर्थात् हृदयाकाश में चित्त लगाना और शुद्ध तत्वों का अनुसन्धान करना, - दोनों का फल एक समान है।

वितर्क आत्मज्ञान् ॥ 17

वितर्क का अर्थ समाधि समझना चाहिए। योगदर्शन के समाधिपाद सूत्र 41, 42, 43 में वितर्क समाधि का वर्णन है। संकल्प-विकल्परहित चित्त की एकाग्रावस्था में अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा पर लक्ष्य रखने से आत्मा का ज्ञान होता है। योग दर्शन में वितर्क, विचार, सानन्द और सास्मिता नाम की सबीज समाधियों का

वर्णन है। वितर्क समाधि या समापति प्रथम सीढ़ी है। यहाँ पर केवल वितर्क कहने और उसका फल आत्मज्ञान बताने से योगदर्शन की निर्बीज समाधि पर्यन्त पूरा साधन–सोपान आ जाता है। चित्त पर दृश्य के उन्मेष का ज्ञेयाकार उदय होने से रूप, नाम, आनन्द और अहंता चतुर्था ज्ञान होता है।

स्थूल जगत् में शुद्ध तत्वानुसन्धान द्वारा भगवद्भावना रखने से काम–क्रोधादि पाशविक भावों के नष्ट होने की बात इससे पहले सूत्र में कही है, इसलिए ऐसे योगी को आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

–गीता 18, 53

ऐसे योगी के लिए –

लोकानन्द समाधिसुखम् ॥ 18

व्युत्थान दशा में दृश्य का सुख समाधि के सुख के सदृश्य होता जाता है। लोकानन्द शब्द से दृश्य जगत् का आनन्द स्पष्ट है। उसमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की त्रिपुटी होनी ही चाहिए, इसलिए यह व्युत्थान दशा का ही वर्णन है। इस दशा में समाधि–सुख का अभिप्राय योगदर्शन कथित अध्यात्म–प्रसाद समझना चाहिए। यहाँ एक बात और समझने की है कि 11 वें सूत्र में जिस वीरेश अवस्था का वर्णन किया गया है, वह आत्मज्ञान के पूर्व की दशा है, किन्तु इस सूत्र में आत्मज्ञान सहित अवस्था का वर्णन है।

शक्तिसंधाने शरीरोत्पत्तिः ॥ 19

यहाँ पर शक्ति का अर्थ इच्छा शक्ति, जिसे उमा कुमारी

(बाला) कहा गया है, लेना चाहिए। वह योगी अपनी इच्छा से अनेक शरीर धारण कर सकता है।

निर्माण चित्तानि अस्मिता मात्रात् ।

– योगदर्शन 4, 4

भूतसंधान भूतपृथकत्व भूतसंघट्टाः ॥ 20

ऐसे योगी में, भूतों पर जय प्राप्त होने से, किसी भी तत्व पर सन्धान मात्र से पञ्चीकरण का पृथकत्व और संघटन कर सकने की क्षमता होती है। संघटन से किसी शरीर का निर्माण और पृथकत्व से उसका विलय समझना चाहिए अर्थात् वह योगी स्वदेह और ब्राह्म दृश्य जगत् में परिवर्तन कर सकता है। किन्तु वह किसी नये ब्रह्माण्ड की रचना नहीं कर सकता।

शुद्धविद्योदयाच्चक्रे सत्वसिद्धिः ॥ 21

इस सूत्र का पूर्व सूत्र के साथ सम्बन्ध है क्योंकि शुद्ध विद्या के उदय हो जाने से उस योगी को ब्रह्माण्डरूपी ब्रह्मचक्र के ऐश्वर्य की सिद्धि आ जाती है। वह योगी जगत्-व्यापार को छोड़ कर (ब्रह्मसूत्र-4-4-17) अन्यथा सर्वशक्तिमान् हो जाता है। ब्रह्मसूत्रों के उक्त सूत्र पर श्री शंकराचार्य अपने भाष्य में लिखते है कि जगत् की उत्पत्ति आदिव्यापार को छोड़ कर अन्य अणिमादि सभी ऐश्वर्य मुक्त पुरूषों में होने योग्य है, किन्तु जगत्-व्यापार तो नित्यसिद्ध ईश्वर का ही है।

महाह्रदानुसंधानात् मंत्रवीर्यानुभवः ॥ 22

महाह्रद के अनुसन्धान से मन्त्र की शक्ति का अनुभव होता है। उपरोक्त सूत्र 19, 20, 21 में योगी की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन

किया गया है। योगदर्शन सूत्र 3,48 में बताया गया है कि बुद्धि या चित्त से आत्मा की अन्यता का ज्ञान होने पर योगी सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हो जाता है। ह्रदय का अर्थ एक तालाब या झील जैसा बड़ा जलाशय है। महाह्रद से सीमारहित समुद्र समझा जा सकता है। यदि चित्त को कूप और जीव को कूपमण्डक कहा जाय तो उसकी अपेक्षा से समष्टि बुद्धि अर्थात् महत्तत्व को (जिसमें देश, कालादि सीमाओं का अभाव है) महाह्रद की और उस योगी को सर्वज्ञ (समुद्र के ज्ञाता) की संज्ञा दी जा सकती है। योगी जब व्यष्टि चित्त से ऊपर उठ कर समष्टि चित्त में प्रवेश करेगा तो उसमें सर्वज्ञता आ जायेगी। 'मननात् इति मनत्रः', -इसलिए मन्त्रों की सार्वभौमिकता महत् बुद्धि में समाविष्ट है। मन्त्र की शक्ति वास्तव में चित्त की ही शक्ति है जिसका उद्गमस्थान महत् है।

द्वितीयोन्मेष (शाक्तोपाय)

शाक्तोपाय शांभवोपाय की पूर्व भूमिका है। इस में कुण्डलिनी शक्ति की जागृति क्रियावती के रूप में होती है। भावनोपनिषद् में क्रिया शक्ति को पीठ अर्थात् आधार और ज्ञान शक्ति को कुण्डलिनी कहा है। यही ज्ञानवती शांभवोपाय में इच्छा शक्ति के रूप में विकसित हो जाती है। इस उन्मेष के अन्तर्गत आत्मा की व्याख्या नहीं की गयी, अतः शांभवोपाय के 'चैतन्यमात्मा' को ही यहां भी समझना चाहिये। शक्ति की जागृति भी उन्मेष है, परन्तु साधक की इच्छा के अधीन न होने से उसे देवात्मिक कहा जाता है।

चित्तं मन्त्र ॥ 1

चैतन्य चित्त पर प्रकाशित आत्मा का प्रकाश है। यहाँ उसे

मन्त्र की उपाधि दी गयी है। चित्त को मन्त्र क्यों कहा गया है? यह विचारणीय है। मन्त्र किसी विद्या-सिद्धि का साधन होता है। मन्त्र के जपादि द्वारा तत्सम्बन्धी विद्या की जागृति चित्त में ही होती है, इसलिए विद्या का वास्तविक स्थान चित्त है। जपादि तो चित्त की क्रिया मात्र है, अतः मन्त्र का स्थान गौण है।

यह पहले कहा जा चुका है कि गुरू मन्त्र द्वारा दीक्षा देते है। यहाँ पर जो चित्त को मन्त्र कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि वेध दीक्षा में स्पर्शादि द्वारा ही शक्ति का जागरण हो जाता है, मन्त्र की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि चित्त में शक्ति का प्रादुभाव होने पर मन्त्रचैतन्यवत् लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। चेतन होने के कारण ही शक्ति चिति-शक्ति कहलाती है जो चिन्मात्र ब्रह्म की शक्ति है। चित्त को चिति-शक्ति की ग्रन्थिवत् समझना चाहिए। मन्त्र की शक्ति का मूल तो चिति-शक्ति ही है। चिदाकाश और चित्ताकाश भी क्रमशः चिति और चित्त के पर्याय है जिन में बिना किसी की सहायता के अनेक विद्याओं की जाग्रति देखी जाती है।

मन्त्रों में शक्ति होती है तथा मन्त्रों या वर्णों के पद होते है, इसलिए मन्त्र की शक्ति का आधार वर्णों की शक्ति है जो सभी मन्त्र रूप कहे गये है। एकाक्षरी कोष में सब वर्णों का अर्थ भी बताया गया है। वर्णों को मातृका भी कहते है और उन की शक्ति को मातृका-शक्ति कहा जाता है। शांभवोपाय के चौथे सूत्र (ज्ञानाधिष्ठानं मातृका) में ज्ञान का अधिष्ठान मातृका कहा गया है तो क्रिया रूपी वैखरी का विषय है। मन्त्र की शक्ति का वाक् शक्ति से सम्बन्ध है अथवायों कहें कि वाक् शक्ति ही मन्त्रों की शक्ति का आधार है,

इसीलिए मन्त्रों का जप किया जाता है। मनन करते समय मन का बुद्धि से सम्बन्ध होता है, यह इच्छा रूपी मध्यमा का विषय है। बुद्धि और मन के निर्विषयी होने पर चित्त की एकाग्रता भूमिका आती है जहाँ निर्विषयी ध्यान रह जाता है– 'ध्यानं निर्विषयं मनः।' यह ज्ञानरूपा पश्यन्ति का विषय है। इस प्रकार इस क्रम को समझने पर मन्त्र का चित्त से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। परा का स्थान आत्मतत्व है जो सब का केन्द्र है।

इसलिए इस (चित्तं मन्त्रः) सूत्र में मन्त्र, वाक्, मन, बुद्धि और चित्त सभी का समावेश है। चित्त का आधार महतत्व अर्थात् हिरण्यगर्भ बुद्धि है, अतः चित्त की शक्ति का मूल स्थान भी महतत्व को समझना चाहिए जिसके अनुसन्धान से मन्त्रों की शक्ति का अनुभव शांभवोपाय के सूत्र 22 में कहा गया है। चित्त के चिन्तन सहित मन्त्र का जप करने से मन्त्र वीर्यवान् होता है। वास्तव में यह सब फैलाव एक चिति शक्ति का ही है।

प्रयत्नः साधकः ॥ 2

शक्ति जागने पर स्वतः साधन करवाती है, साधक को शक्ति की शरण में रहने के अतिरिक्त कोई साधन नहीं करना पड़ता अथवा यों कहें कि शक्ति ही साधक है और उसी का साधन प्रयत्न है। यह कहा जा चुका है कि आणवी दीक्षा यत्नसाध्य है और यह दोनों (शांभवों और शक्ति) शक्तिसाध्य है इसीलिए इसे सिद्धोपाय भी कहते है।

साधक को यहाँ केवल शक्ति की सहायता से परम तत्व को प्राप्त करना है। शक्ति की जाग्रति के पूर्व गुरूप्रदत्त मन्त्र के

जप द्वारा शक्ति को जाग्रत करने का यत्न किया जाता है, जैसे मोटर के डायनेमों को जाग्रत करने के लिए बाहर से एक लोहे के डण्डे से घुमाया जाता है। परन्तु शक्ति की जाग्रति के पश्चात् मन्त्र के ध्यान मात्र से ही शक्ति का कार्य अनुभव होने लगता है। ("यदानुध्यायते मन्त्रं, गात्रकम्पोऽथ जायते' – योगशिखोपनिषद्)। शक्तियुक्त मन्त्र को सजीव और शक्तिहीन मन्त्र को निर्जीव अक्षरों का समूह समझना चाहिए। शक्तिसम्पुटित मन्त्र को चेतन समझना चाहिए।

मन्त्र क्या है ? इसका रहस्य अगले सूत्र में बताया गया है –

विद्या शरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम् ॥ 3

मन्त्र चैतन्य होने पर जिस शक्ति की जाग्रति होती है, उसे विद्या कहते हैं। कुण्डलिनी का श्री और कुण्डलिनी–जाग्रति का श्रीविद्या नाम विख्यात ही है। मन्त्र के अक्षर तो केवल उसके स्थूल शरीरवत् ही है। मन्त्र से सम्बन्धित विद्या के अधिष्ठातृ देवता के साक्षात् होने पर उस मन्त्र की सिद्धि मानी जाती है। इसलिए विद्या की सत्ता अधिष्ठातृ देव में है जो शक्ति द्वारा अभिव्यक्त अथवा प्रत्यक्ष होता है। मन्त्र को उस देव के स्थूल शरीरवत् जानना चाहिए।

शक्ति की अभिव्यक्ति चित्त में प्रकट होती है। गुरूप्रदत्त मन्त्र में गुरू के संकल्प द्वारा चित्त की आंशिक शक्ति बीजरूप से शिष्य में बोई जाती है और वह शिष्य के चित्त में अंकुरित हो कर विकास पाती है। मन्त्र के अक्षर वाहक का काम करते है। जैसे बीज के फल, पुष्प, पत्ते सहित पूरा वृक्ष विद्यमान् है, उसी प्रकार तत्सम्बन्धी विद्या का पूरा शरीर बीज रूप से मन्त्र में निहित है। विद्या की सत्ता चित्त से सम्बन्ध

रखती है, अक्षरों से नहीं, इसलिए केवल पुस्तकों में लिखे मन्त्र को स्वयं ही लेकर जपने का निषेध किया गया है, क्योंकि वह केवल अक्षर मात्र है। जिस प्रकार पाषाण-मूर्ति प्राण-प्रतिष्ठा के पश्चात् ही पूज्या है, उसी प्रकार कोई भी मन्त्र गुरूमुख से प्राप्त होने पर ही प्राणप्रतिष्ठित हो कर जपनीय होता है। मन्त्रों के पुरूश्चरणों आदि द्वारा साधक में पूर्व से विद्यमान शक्ति विकास पाने लगती है। मन्त्र तो दीपक को प्रज्जवलित करने के लिए दियासलाई का कार्य करता है। मन्त्र जिस देवता-सम्बन्धी होता है जाग्रत होने पर शक्ति उसी देवता का रूप धारण करके वरदायिनी होती है, इसीलिए इसे विद्या कहा गया है अर्थात् विद्या को यहाँ चेतना शक्तिवाचक समझना चाहिए।

मनुष्य के अन्तरात्मा में सब विद्याएँ विद्यमान् हैं, उनका विकास ही उनकी जाग्रति कहलाता है।

गर्भेचित्तविकासोऽविशिष्टविद्यास्वप्नः ॥ 4

गर्भ (शक्ति की सुप्तावस्था) में चित्त का विकास चेष्टाओं एवं संकल्प-विकल्पादि के रूप में अवशिष्ट (सामान्य) स्तर पर होता है जो जाग्रत शक्ति की अपेक्षा से स्वप्नवत् है।

कुण्डलिनी शक्ति के जागने के पहले मनुष्य की सब शारीरिक, मानसिक बाह्याभ्यन्तर क्रियाएँ सोती हुई शक्ति स्वप्नवत् करवाती है अर्थात् बन्धनयुक्त मनुष्य का जीवन वास्तव में स्वप्न है। उसकी वास्तविक जाग्रति तभी समझनी चाहिए जब कुण्डलिनी जाग कर ईश्वराभिमुख होती है। श्री भगवान् ने गीता में कहा है -

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यते मुनेः ॥

विद्यासमुत्थाने स्वाभाविकी खेचरी शिवावस्था ॥ 5

कुण्डलिनी के जाग्रत तथा उसके स्वाभाविक क्रियावती होने पर उसकी शक्ति की खेचरी शिवावस्था होती है। 'खे' का अर्थ आकाश है, अतः 'खे चरति इति खेचरी।' यहाँ पर सहस्रार चिदाकाश को 'ख' समझना चाहिये। शक्ति का उत्थान जब चित्तकाश से उठ कर चिदाकाश में और चिदाकाश से परमाकाश रूपी परम तत्व में होता है तो उस को खेचरी कहते है। यह उसकी शिवावस्था अर्थात् कल्याणकारी मोक्षदायिनी अवस्था है। अब उस शक्ति की जाग्रति का उपाय बतलाते है –

गुरूरूपायः ॥ 6

शक्ति की जाग्रति के लिए शक्तिसमर्थ गुरू की कृपा ही उपाय है।

आगे शक्ति जागने पर मातृका का चक्रों से सम्बन्ध बताते है कि मातृका–शक्ति के जागने पर चक्र–ज्ञान होता है–

मातृका चक्रसंबोधः ॥ 7

मातृका अर्थ वर्णमाला है अर्थात् हर एक अक्षर में शक्ति है उस शक्ति को जाग्रत करने के लिए उस पर अनुस्वार लगा कर उसे मन्त्र का रूप दिया जाता है। चक्र से सुषुम्नागत षड्चक्र समझना चाहिए। इन मूलाधारादि छः चक्रों में पूरी वर्णमाला ओत–प्रेत है। विशुद्ध चक्र में 16 स्वर, अनाहत में क से ठ तक बारह अक्षर, मणिपुर में ड से फ तक 10 अक्षर, स्वाधिष्ठान् में ब से ल तक 6 अक्षर, मूलाधार में व शष स 4 अक्षर तथा आज्ञा चक्र में क्ष ओर ह दो अक्षर कहे जाते है अर्थात् इन वर्णों से सम्बन्धित शक्तियाँ इन चक्रों में स्थित है।

यही मातृका-शक्तियाँ (वाक्-शक्ति) जाग्रत होने पर चक्रों का ज्ञान कराती है। इनके नाम और स्थान इस प्रकार है-परा का स्थान मूलाधार है, पश्यनति का स्थान मणिपुर है, मध्यमा का स्थान हृदयस्थ अनाहत चक्र है और वैखरी का स्थान विशुद्ध चक्र है। बिना स्वरों के किसी मन्त्र या पद का उच्चारण नहीं हो सकता। इन चक्रों पर धारणा-ध्यान रूपी संयम करने से अनेकों सिद्धियों की प्राप्ति का वर्णन है।

इन मातृकाओं का सम्बन्ध नाड़ियों से भी है। स्वरों का सम्बन्ध इड़ा से, क से म तक अक्षरों का सम्बन्ध पिंगला से आर शेष आठ अक्षरों का सम्बन्ध सुषुम्ना से कहा गया है। यदि चक्र का अर्थ संसार-चक्र लिया जावे तो योगदर्शन के अनुसार 'सूर्य संयमात भुवनज्ञानम्' सूत्र में सूर्य से सूर्यद्वार अर्थात् सुषुम्ना कही गयी है।

शरीरं हविः ॥ 8

गुरूकृपा-प्राप्त शिष्य जिसकी कुण्डलिनी जाग्रत हो गयी है, उसका शरीर योगाग्नि के लिए हवि रूप है। जागने पर शक्ति अग्निरूपा है और उससे शरीर की शुद्धि होने के कारण शरीर को हवि कहा गया है। शक्ति योगी को उस अवस्था की ओर ले जाती है जिसका उल्लेख श्वेताश्वरोपनिषद् की निम्न पंक्तियों में किया गया है

पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते,
पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगों न जरा न मृत्युः,
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ -2, 12

पृथिवी, जलादि का वेध होने पर पंचभूतात्मक योग का अनुभव हो कर जिस योगी का शरीर योगाग्निमय हो गया है, उसे न रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है और न उसकी असामयिक मृत्यु ही होती है। यहाँ यह बात विशेष ध्यान रखने की है कि यह अवस्था भूतजय होने पर ही प्राप्त होती है। कहा भी है –

धमाधर्म हविः प्रदीप्ते योगाग्नौ मनसा ।

ज्ञानं अन्नम् ॥ 9

ज्ञान उस योगी का अन्न है। 'ज्ञानं बन्धः' की परिभाषा के अनुसार योगी बन्ध रूपी ज्ञान को खा जाता है अर्थात् अपने में विलीन कर लेता है।

विद्यासंहारे तदुत्थस्वप्नदर्शनम् ॥ 10

विद्या के समाधि में विलीन होने पर उससे उदय होने वाले उस विद्या से सम्बन्धित स्वप्नों अर्थात् ज्योति आदि का दर्शन होता है। देवताओं, महात्माओं और देवमन्दिरों के दर्शनों को भी इस श्रेणी में रखा जा सकता है। उक्त ज्योति-दर्शनादि समाधि लगने से ठीक पूर्व अथवा समाधि के तुरन्त पश्चात् अर्धसमाधि अवस्था में होते हैं, इसीलिए इनको यहाँ स्वप्नदर्शन कहा गया है। यह ज्योतिदर्शन तीन प्रकार के हैं, – बाह्य, मध्यम और अभ्यन्तर। जाग्रत अवस्था में खुली आँखों से जो ज्योतिदर्शन होते है, वे बाह्य दर्शन है। आँखे बन्द रहते त्रिपुटी सहित ध्यानावस्था में जो दर्शन होते हैं, वे दर्शन मध्यम कहलाते है। त्रिपुटी की अर्धविलीनावस्था में जो दर्शन होते हैं, वे अभ्यन्तर है। उस समय दृष्टापन का अभाव रहता है और त्रिपुटी की जाग्रति होने पर साधक कहता है कि मुझे ऐसी ज्योति के दर्शन हुए।

प्रत्येक विद्या का देवता होता है और प्रत्येक देवता की विशेष सिद्धियाँ होती है, जैसे सरस्वती विद्या की देवता है और लक्ष्मी धन की। इनके मन्त्र भी विभिन्न है जिनके जपादि द्वारा समाधि लगने पर वे मन्त्र सिद्ध हो जाते है और साधक को सिद्धिसूचक स्वप्न होते हैं। कलियुग में देवता प्रत्यक्ष नहीं होते।

तृतीयोन्मेष (आणवोपाय)

आणवोपाय को तीसरा उन्मेष कहा गया है अर्थात् इसे निम्नस्तरीय उन्मेष समझना चाहिए। आत्मतत्व से चैतन्यभाव का उन्मेष प्रथम उन्मेष है। चैतन्यभाव से उदित शक्ति दूसरा उन्मेष है और चैतन्यभाव का चित्त से तादात्म्य होने पर अहम्भाव का अणुत्व (व्यष्टि) रूप से उदय होना निम्नस्तरीय तीसरा उन्मेष है। बिना शक्तिपात् के ही जिस साधनक्रम के द्वारा इस अणुत्वभाव से ऊपर उठ जाता है, वह आणवोपाय है।

यह कहा जा चुका है कि कुण्डलिनी शक्तिं के जागरण के उपरान्त शाक्तोपाय और शाम्भवोपाय का उत्थान होता है, परन्तु बहुसंख्यक साधक ऐसे हैं जो कुण्डलिनी-जागरण से सर्वथा अपरिचित होते हुए भी किसी-न-किसी आध्यात्मिक साधन में लगे रहते है, उन्हीं के लिए आणवोपाय कहा जाता है। यह भी देखा जाता है कि योग्य गुरू से शक्तिपातरहित साधन लेकर उस के विधिवत् अनुष्ठान से किसी अंश में कुण्डलिनी की जाग्रति हो जाती है और योग्य समय आने पर सिद्ध गुरू मिल जाता है। यह भी देखा गया है कि देवता भी परोक्ष में रह कर शक्तिपात करके साधकों पर अनुग्रह करते है। यदि साधन करते-करते कुण्डलिनी की जाग्रति न भी हो, तो

भी आणवोपाय की साधना व्यर्थ नहीं जाती, उस से अन्तःकरण की शुद्धि तो होती ही है।

आत्मा चित्तम् ।।1

आणवभाव में, चित्त और आत्मा दोनों का तादात्म्य होने से, साधक चित्त को ही आत्मा समझता है, चित्त पर पड़े आत्मा के चैतन्य-प्रकाश को उस से भिन्न नहीं समझता। जैसे स्वर्ण पर सूर्य की किरणें पड़ने से जो कान्ति दृष्टिगोचर होती है, वह कान्ति स्वर्ण से भिन्न प्रकाश के कारण है, स्वर्ण के कारण नहीं। प्रकाश के अभाव में वह कान्ति दृष्टिगोचर नहीं होती, परन्तु सामान्य मनुष्य स्वर्ण की कान्ति को स्वर्ण से भिन्न नहीं समझता। यह तादात्म्य कुछ अंश तक शाक्तोपाय और शाम्भवोपाय में भी बना रहता है, परन्तु शाम्भवोपाय में आत्मा को 'चैतनयं आत्मा' कह कर साधक का लक्ष्य चित्त से हटा कर चित्त पर प्रतिभासित आत्मा के चैतन्य प्रकाश की ओर कराया गया है, जो स्वर्ण की कान्ति के सदृश्य है।

वास्तविकता यह है कि आणवोपाय के साधक को भी अन्ततः आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए शाम्भवोपाय के लक्ष्य पर ही पहुँचना पड़ेगा। इसलिए दोनों के साधन में ही अन्तर है, अन्तिम लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं है। शक्ति के जागने के पश्चात् चित्त को आत्मा मानता हुआ साधक भी अपने अन्तर में एक चेतन शक्ति का अनुभव करने लगता है जो उस के दृष्टिकोण में परिवर्तन करने के लिए पर्याप्त होता है।

यहाँ यह भी विचारणीय विषय है कि चित्त क्या है? क्योंकि उस का नाम उपरोक्त 36 तत्वों में नहीं आता। उपरोक्त पाँच कला और उनके

अन्तर्गत 36 तत्व अथवा सांख्य के 24 तत्व कहे गये है जो समष्टि ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित है। ऐतरेयोपनिषद् में समष्टि से व्यष्टि में आने के लिए लोक और लोकपालों का वर्णन है, जैसे ब्रह्मा के मुख से वाक् का उदय हुआ और उस से अग्नि का, नासिका से प्राण और प्राण से वायु का, दृष्टि से चक्षु और चक्षु ये आदित्य का, हृदय से मन और मन से चनद्रमा का उदय हुआ, इत्यादि। पुराणों में और भी विस्तार से इस का वर्णन किया है। यह सब ब्रह्माण्ड की सृष्टि का वर्णन है। आगे चल कर कहा गया है कि अग्नि ने वाक् बन कर व्यष्टि शरीर के मुख में प्रवेश किया, वायु ने प्राण बन कर नासिका में प्रवेश किया, आदित्य ने चक्षु बनकर दृष्टि में प्रवेश किया और चन्द्रमा ने मन बर कर हृदय में प्रवेश किया, इत्यादि।

अन्तःकरण चतुष्टय के मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार – चार कार्य है। अन्य शास्त्रकारों के मतानुसार महतत्व से बृहस्पति, बृहस्पति से व्यष्टि की बुद्धि, समष्टि अहंकार से सगुण शिव, सगुण शिव से व्यष्टि का अहंकार और सगुण विष्णु से चित्त इत्यादि की उत्पत्ति होती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्तियों को माया के अन्तर्गत माना गया है जो सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के अधीश्वर है। इससे प्रतीत होता है कि चित्त व्यष्टि का अंग है और उसे समष्टि महतत्व का अणु समझना चाहिए। इसीलिए आणव मल व्यष्टि स्तर पर ही पाया जाता है, समष्टि में नही। अतः चित्त को आत्मा मानना आणव मल से ही आवृत होना है। चित्त ही तन, बुद्धि, अहंकार तीनों की पृष्ठभूमि है जिस में सब संस्कार संचित रहते है, इसीलिए योगदर्शन ने 'चित्तवृत्ति निरोधः' को ही मुख्य साधन माना है।

आत्मा कभी चित्त से तादात्म्य नहीं करता– 'नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावोऽयं आत्मा।' इसीलिए चित्त को आत्मा कहना अज्ञान है और अज्ञान का कार्य बन्धन है। बनधन का रूप अगले सूत्र में बताते है –

ज्ञानं बन्धः ॥ 2

ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय दोनों का समावेश होता है। ज्ञाता में अहम् भाव और ज्ञेय में इदम् भाव रहता है। यह ज्ञान जब रागयुक्त होता है तो बन्धन का कारण होता है। राग विद्या कला का छठा तत्व है। इस कला का विद्या नाम पाँचवें तत्व के नाम पर है। प्रथम तत्व माया है, फिर नाम पाँचवें तत्व के नाम पर है। प्रथम तत्व माया है, फिर काल, कला, नियति, तीन शुद्ध तत्व है। इन के ज्ञान को विद्या कहा गया है और इन को जान की इन में आसक्त होना राग है। विद्या और राग अशुद्ध तत्व है। ये पाँचों माया के पाँच कञ्चुक कहलाते है जिन से आवृत आत्मा पुरूष या जीव हो जाता है। पुरूष विद्या कला का सातवाँ तत्व है। गीता में इस कला को परा प्रकृति कहा है जिससे– 'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।'

राग को ही मोह भी कहते है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और आनन्द–स्वरूप भी, परन्तु जब वह आनन्द उसका ज्ञेय बन जाता है अर्थात् विषय का रूप धारण कर लेता है तो वह भी 'इदम्' की कोटि में आ जाता है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि ज्ञान को शिव और आनन्द को शक्ति कहते है। ज्ञेय से प्राप्त आनन्द को सुख कहते है। योगदर्शन ने सुख–भोग के पश्चात् रह जाने वाले संस्कार को राग कहा है। इसलिए आनन्द के ज्ञान को, जो बन्धन का कारण है,

भौतिक विषयों के स्तर पर विषयसुख, उससे सूक्ष्म मनोराज्य के स्तर पर वैकल्पिक सुख और उससे भी सूक्ष्म संस्कार रूपी मोह-स्तर पर रस समझना चाहिए। भगवान् ने गीता में कहा है –

रसवर्ज रसोऽयस्य परम् दृष्टवा निवर्तते।

यहाँ रस का अर्थ विषयसुखभोग का संस्कार है। इस संस्कार का अधिष्ठान चित्त हे। जब तक यह रस निवृत. नहीं होता, तब तक उसका ज्ञान बन्धनरूप है। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी में दृश्य की विद्यमानता रहती है, समाधि में त्रिपुटी नहीं रहती, ज्ञाता और ज्ञेय दोनों का अभाव हो जाता है, क्योंकि 'अहम्' और 'इदम्' दोनों ही नहीं रहते, परन्तु 'रस' बना रहता है। ज्ञेय की प्रधानतायुक्त समाधि में बन्धन का बीजरूप संस्कार बना रहता है, किन्तु 'अहम्' की वृत्ति की प्रधानतायुक्त समाधि आत्मा के ज्ञान में सहायक होती है। इसे वेदान्त में अहंग्रह उपासना कहा है –

निर्विकारतयावृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्ति विस्मरणं सम्यक्समाधिरभिधीयते।।

आनन्द रूपी 'इदम्' को ज्ञेयरूप से भौतिक विकल्प संस्कारों के स्तर पर स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर समझना चाहिए। इसलिए बन्धन से मुक्ति के लिए पहले भौतिक ज्ञान से ऊपर उठना है, फिर विकल्प ज्ञान से ऊपर उठना है और तब फिर संस्कारों के स्तर से ऊपर उठना है। यही साधन का सोपानक्रम है। सांख्य के अनुसार चित्त को आत्मस्वरूप मानना अविद्या है। उसमें 'अहम् वृत्ति' को मोह कहते है और ज्ञेय में रागयुक्त वृत्ति को महामोह कहते है।

यह सूत्र तीनों उपायों में समान रूप से लागू है, किन्तु

उत्तरोत्तर तीनों मलों की तारतम्यतानुसार क्षीण होता चला जाता है, जैसा कि तीसरे सूत्र में स्पष्ट है –

कलादिनां तत्त्वानां अविवेको माया ।।3

चित्त पर आत्मा के चैतन्य-प्रकाश के तादात्म्य से अहंकार का उदय होता है। इसीलिए मनुष्य अपने अहंकार को ही अपना स्वरूप मानता है। चित्त का सम्बन्ध इन्द्रियों से है, इसलिए उस अहंता के इन्द्रियों के स्तर पर उतर कर द्रष्टा, कर्ता, भोक्ता का रूप धारण करने से मनुष्य इन्द्रियाभिमानी बन जाता है। इन्द्रियों का सम्बन्ध देह से है जो बाह्य दृश्य के ज्ञान, कर्म और भोग की साधन है, इसलिए शरीर के स्तर पर वह देहाभिमानी बन जाता है। कारण, सूक्ष्म और स्थूल रूप से देह के तीन विभाग किये जाते है। परन्तु इन तीनों के पृथक्करण को सामान्य मनुष्य नहीं समझता कि तीनों शरीर पाँचों कलाओं के संघात से बने है अर्थात् प्रत्येक प्राणी अपने आत्मतत्व का पाँचों कलाओं के समूह से तादात्म्य कर के उसको तदाकार ही मानता है। कलाओं के तत्वों से संबद्ध अविवेक को माया कहते है, इसलिए आणवोपाय के साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह उक्त कलाओं के पृथक्करण को समझे ओर अनुभव करे।

शरीरे संहारः कलानाम् ।।4

इस सूत्र में व्यष्टि शरीर में तत्सम्बन्धी कलाओं का संहार कहा गया है जिनका वर्णन अगले सूत्र में दिया गया है। यहाँ शरीर भौतिक स्थूल शरीर का वाचक है जैसा कि अगले सूत्र से स्पष्ट है। स्थूल देह अशुद्ध कलाओं का निर्मित है और देहाध्यास इतना प्रबल होता है कि उसके कारण अभिनिवेश रूपी अन्धतामिस्त्र से छुटकारा

पाना असम्भवप्राय: है। इसलिए सर्वप्रथम उससे छूटने का साधन कहा जाता है।

तत्वों की शुद्धि द्वारा ही उन के पृथकत्व का ज्ञान समझ में आ सकता है। अहंकार से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सभी तत्व अव्यक्त शक्ति की महत्तत्व रूपी व्यक्त दशा के परिणाम मात्र है। इसलिए सब तत्व एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हुए भी विभिन्न स्तरों पर उसी एक ही शक्ति के रूपान्तर है। जैसे एक सूत्र में ग्रन्थिया लगा कर माला बना दी जाय तो वह सूत्र ही विभिन्न मनके बन जाता है और मनको को पिरोए रखने का कार्य भी करता है। इसी प्रकार एक ही शक्ति स्पन्दित हो कर विभिन्न तत्वों के रूप में भी परिणित हुई है और उन सब की तारतम्यता को जोड़े हुए भी है। उपनिषदों में इस सूत्र को प्राण कहा है जो आत्मा की सत् शक्ति है –

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।

– कठोपनिषद्

उपरोक्त संहारक्रम अगले सूत्र में कहे हुए सोपानक्रम के अनुसार चार स्तरों पर है –

नाडीसंहार भूतजय कैवल्य भूतपृथकत्वानि ।।5

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का बाह्य ज्ञान नाड़ियों द्वारा होता है। नाड़ियों की व्यपाकता सारे शरीर में है और उनका सम्बन्ध सुषुम्ना नाड़ी से है। नाड़ियों द्वारा प्राण–शक्ति का प्रवाह होता है। प्राण सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से जोड़ता है और सूक्ष्म शरीर, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के शब्द–स्पर्शादि ज्ञान पाँच तत्वों से सम्बन्धित है – पृथ्वी से गन्ध, जल से रस, अग्नि से रूप, वायु से स्पर्श और आकाश से श्रवण।

पृथ्वी का सम्बन्ध मूलाधार से, जल का स्वाधिष्ठान से, अग्नि का मणिपुर से, वायु का अनाहत से और आकाश का विशुद्ध चक्र से सम्बन्ध है। इन चक्रकों का स्थान सुषुम्ना के अन्दर है। हठयोग की क्रियाओं द्वारा नाड़ी-शुद्धि की जाती है और प्राणायाम द्वारा प्राण का संयम आता है। नाड़ियों की शक्तियों के लयक्रम को संहार कहा गया है और यह कार्य प्राण की गति को इच्छानुसार संचालित करने से ही हो सकता है। इसलिए नाड़ी-शुद्धि को नाड़ी-संहार जानना चाहिए।

कर्मेन्द्रियों के व्यापार भी इसी प्रकार समझ लेने चाहिए। यह सब व्यापार प्राण-शक्ति के द्वारा संचालित होते है जो नाड़ियों में प्रवाहित हो कर बाह्य दृश्य से सम्बन्ध कराती है। उसके अन्तर्मुखी होने पर प्रतिप्रसव अर्थात् उलट क्रम संपादित होता है। प्राण का सुषुम्ना में विलीनीकरण होने से बाह्य ज्ञान का विच्छेद हो जाता है। इसे ही यहाँ नाड़ी-संहार कहा गया है। तत्पश्चात् प्राण-शक्ति के संयम द्वारा पाँचों तत्वों के ऊपर जय प्राप्त की जाती है जो भूतजय का विषय है। इसमें योगी को अपने देहस्थ पाँचों तत्वों के घटाने-बढ़ाने अथवा स्थूल सूक्ष्म बनाने का सामर्थ्य आ जाता है अर्थात् उसे अणिमादि सिद्धियाँ आ जाती है, परन्तु देहाभिमान बना रहता है।

भूतकैवल्य में योगी सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से पृथक् कर लेता है, परन्तु स्थूल शरीर में रहने पर बाह्य दृश्य का ज्ञान और सम्बन्ध स्थूल शरीर के आश्रित पूर्ववत् ही रहता है। भूतपृथकत्व में सूक्ष्म-शरीर को अपने ज्ञान के लिए स्थूल शरीर की अपेक्षा नहीं रहती। योगदर्शन के विभूतिपाद के सूत्र 42 में इसे बहिर्विकल्पिता महाविदेहा वृत्ति कहा है। ऐसे योगी को परकाय-प्रवेश की सिद्धि आ

जाती है।

उक्त चारों अवस्थाओं का वर्णन, जैसा यहाँ दिया गया है, योगदर्शन के अनुसार संयम के सिद्ध होने पर सिद्ध होता है, परन्तु आरम्भावस्था में क्रमशः प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और समाधि का अभ्यास होना आवयक है। इस क्रम से स्थूल शरीर के अध्यास पर जय पाई जाती है। कुण्डलिनी जाग कर सब साधन स्वतः कराती है, परन्तु सामान्य साधक को यह सब अपने परिश्रम से करना पड़ता है जो अति कष्टसाध्य है।

मोहावशात् सिद्धिः ।।6

सिद्धियाँ यद्यपि आत्मा के सामर्थ्य की अभिव्यक्ति मात्र है, किन्तु योगी चित्त के अणुरूप अहंभावीरूपी मोह के कारण उनको सिद्धियाँ कहता है, इसीलिए कहा है कि –

मोहजयात् अनन्तभोगात् सहजविद्यालयः ।। 7

उपर्युक्त साधन द्वारा परकाय-प्रवेश के सामर्थ्य एवं अनुभूति से स्थूल शरीर का अध्यास रूपी मोह नष्ट होता है। मोहजय (अपने चित्त के अणुत्व रूपी मोह का जय) कर के जब योगी अनन्त में प्रवेश करता है तो विद्या कला (माया) का स्वाभाविक जय हो जाता है।

न प्राणायामात् परमं तपः, ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

सहज का अर्थ स्वाभाविक है। विद्या को माया का चौथा कञ्चुक कहा गया है अर्थात् विद्या का अर्थ बाह्य ज्ञान है, इसलिए विद्या से माया, काल, कला, नियति का ज्ञान समझना चाहिए।

जाग्रदद्वितीय करः ।।8

जाग्रत का बाह्य दृश्य उपर्युक्त योगी को दूसरे हाथ के सदृश्य है अर्थात् गौण है। कर का अर्थ प्रकाशक अथवा सहायक समझना चाहिए। अर्थात् वह योगी बाह्य दृश्य के ज्ञान के लिए स्थूल देह की अपेक्षा नहीं रखता कि उसकी सहांयता के बिना बाह्य ज्ञान नहीं होगा।

नर्तक आत्मा ।।9

सूत्र 9 और 10 में अन्तरात्मा से आत्मा का भेद रखने से यहाँ 'चित्तं आत्मा' ही समझना चाहिए। नर्तक एवं रंगभूमि की उपमा दोनों के भेद और सम्बन्ध को अच्छी तरह समझने में सहायक है।

चित्त पर अन्तरात्मा का प्रकाश अहंकार के रूप में उदित होता है जो चित्त की वृत्तियों के साथ नृत्य-सा करता रहता है। नर्तक की उपमा देकर कहा गया है कि उपर्युक्त सिद्ध योगी इतना परिश्रम कर के भी आणव स्तर से ऊपर नहीं उठता।

रंगोन्तरात्मा ।।10

उसका आधार रूप अन्तरात्मा ही अचल स्थिर होने के कारण उसके नृत्य की रंगभूमि है। उपनिषदों में अन्तरात्मा को ईश्वर माना है
-

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको
बहूनां यो विदधाति कामान्।।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां
शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।।

जो अनित्य पदार्थों में नित्यस्वरूप तथा चेतनों में चेतन है और जो अकेला ही अनेकों की कामनाएँ पूरी करता है, अपनी बुद्धि में

स्थित उस अन्तरात्मा को जो विवेकी पुरूष देखते है, उन्हीं को नित्य शान्ति प्राप्त होती है, अन्यों को नहीं।

ईश्वर एक है, इसलिए सब प्राणियों का अनतरात्मा एक है जिसके प्रकाश से अनेक चित्त प्रकाशित हो कर अनेकों चित्ताभिमानी जीव कहलाते है। इसी कारण यहाँ अनतरात्मा को रंगभूमि से उपमित किया है।

प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि ॥ 11

उसकी इन्द्रियाँ बाह्य दृश्य की आसक्ति छोड़कर अन्तर्मुखी हो जाती है, मानों उसके नृत्य को देखने लगती है अथवा उस सिद्ध योगी को स्थूल शरीर की सहायता के बिना बाह्य दृश्य का ज्ञान होता है, इसलिए इन्द्रियों को प्रेक्षक मात्र कहा गया है।

धीवशात् सत्त्वसिद्धिः ॥12

धी (बुद्धि की वृत्तियों) के वश में अर्थात् शान्त हो जाने पर सत्त्व अर्थात् बुद्धि की शुद्धि हो जाती है। उसके हो जाने पर ही योग की स्थिति आती है –

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

– गीता, 16-1

सिद्धः स्वतन्त्रभावः ॥13

ऐसे सिद्ध योगी का भाव स्वतन्त्र होता है, क्योंकि –

यथा तत्र तथान्यत्र ॥ 14

जैसा वहाँ, वैसा ही सर्वत्र व्यवहार करता है। परन्तु इस स्वतन्त्रता में सदा एक भय भी रहता है कि वह स्वच्छन्द हो कर अपने संस्कारों के वश कहीं पतनाभिमुख न हो जावे। इसलिए –

बीजावधानम् ॥ 15

संस्कारों में भोगों का रस विद्यमान् रहता है जो भोगों के त्याग से नष्ट नहीं होता, वरन् –

परं दृष्ट्वा निवर्तते । – गीता

परमार्थतत्वरूप ब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन होने पर ही नष्ट होता है। इसीलिए कहा गया है कि संस्कारों को अंकुरित करने वाली परा शक्ति रूपी बीज पर लक्ष्य रखने से योगी भोगासक्ति से बच सकता है, और –

आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति ॥ 16

इधर–उधर बहिर्चेष्टाओं का त्याग करके, अपने आसन पर स्थित रह कर सुखपूर्वक चिदाकाश रूपी ह्रद में मग्न होता है।

स्वमात्रा निर्माणमापादयति ॥ 17

वह अपनी इच्छा शक्ति से चित्त और दूसरे देहों का भी निर्माण कर सकता है।

'निर्माण चित्तानि अस्मिता मात्रात् ।'

– योग दर्शन 4,4

यह सब कुछ कर सकने में समर्थ होता हुआ भी वह बन्धनयुक्त नहीं होता।

विद्याऽविनाशे जन्मविनाशः ॥ 18

यद्यपि अनेकों चित्तों, अनेकों देहों का निर्माण कर के विहार करता हुआ योगी अविद्या में ही कहा जाता है, तो भी वह मुक्त ही होता है, उस का पुनर्जन्म नहीं होता।

अगले सूत्र का उक्त 51वें सूत्र से फिर सम्बन्ध जोड़ते हुए साधक को सावधान रहने की चेतावनी है।

कवर्गादिषु माहेश्वराद्याः पशुमातरः ॥ 19

कवर्गादि से सम्बन्धित माहेश्वरादि प्रभृति जो शक्तियाँ है, वे पशुभाव की जननी है। अविद्या से सावधान रहने के लिए इस सूत्र की आवश्यकता है क्योंकि बाह्याभ्यन्तर जगत् की सृष्टि शब्द से है और शब्द वैखरी वाणी का विषय है जिस का आधार वर्णमाला (मातृका) है। वर्णमाला को आठ वर्गों में माना गया है- अवर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग और शवर्ग। इनकी शक्तियाँ इस प्रकार है- माहेश्वरी, ब्राह्मी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, माहेनद्री, चामुण्डा और महालक्ष्मी। पाठान्तर में कहीं-कहीं वैष्णवी की जगह नारायणी, चामुण्डा की जगह नरसिंही और महालक्ष्मी की जगह अपराजिता भी आता है।

भवानोपनिषद् में कहा है - 'काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य पुण्य पापमयाः ब्राह्मयादि अष्ट शक्तयः।' ये मातृदेवता प्रकट योगिनियाँ कहलाती है। इन को 'पशु मातरः' इसलिए कहा गया है क्योंकि इन से मनुष्य (जीव) पशु की तरह पाश में बँधे हुए है। माहेश्वर्यादि शक्तियाँ जाग्रत होने पर योगी को बहकाती है। योगी (साधक) को चाहिए कि ऐसे आदेशों को सत्य मान कर पथभ्रष्ट न हो और अपनी विवेकबुद्धि से काम ले। अब साधन की ओर आते है।

त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ॥20

तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) को चौथी

(तुरीय) से तेल की तरह सींचते रहना चाहिए। इस सूत्र और आगे के सूत्रों को भली भाँति समझने के लिए प्राण का स्वरूप समझना आवश्यक है।

उपनिषदों के पढ़ने से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मा के संकल्प से सर्वप्रथम प्राण उदय होता है (देंखे प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न की तीसरी श्रुति, छठे प्रश्न की चौथी श्रुति, मुण्डकोपनिषद् के पहले खण्ड की तीसरी श्रुति, और कठोपनिषद् के दूसरे अध्याय की तीसरी वल्ली की दूसरी श्रुति, इत्यादि) और प्राण से सारे विश्व की सृष्टि होती है। इस प्रकार प्राण के विभु और अणु दो रूप हो जाते है। 'अणुश्च' (ब्रह्मसूत्र 2, 4,13) पर अपने भाष्य में शंकरभगवद्पाद कहते है कि आधिदैविक हिरण्यगर्भ रूप से समष्टि प्राण विभु और आध्यात्मिक रूप से व्यष्टि प्राण अणु है। उपरोक्त उद्धृत श्रुतियों में ब्रह्म से सर्वप्रथम उदय होने वाला प्राण विभु प्राण है जो विश्व के सब तत्त्वों में परिणित हो जाता है।

उक्त श्रुतियों में मन का नाम आता है, किन्तु बुद्धि का नहीं। इस से प्रतीत होता है कि हैरण्यगर्भ विभु प्राण हीं समष्टि बुद्धि है जिस को सांख्य में महत्तत्त्व और कठोपनिषद् में महानात्मा कहा गया है। शंकरभगवद्पाद ने भी अपने भाष्य (ब्रह्मसूत्र 1,4,1) में कहा है कि श्रुतियों में जो सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाली हैरण्यगर्भ बुद्धि कही गयी है, वह सब प्राणियों की बुद्धि की परा-प्रतिष्ठा है। उसे ही यहाँ (कठोपनिषद् में) महानात्मा कहा गया है-

इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरूषः परः।
पुरूषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

– कठोपनिषद् 1,3,10–11

इन श्रुतियों से स्पष्ट है कि समष्टि प्राण और बुद्धि दोनों महतत्त्व ही है जो अध्यात्म–स्तर पर अणु रूप से अलग–अलग प्रतीत होता है। इसलिए प्राण और चित्त दोनों का पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध है। प्राण के निरोध से चित्त का निरोध और चित्त के निरोध से प्राण का निरोध होता है, क्योंकि ऊपर के स्तर पर दोनों एक ही है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में दोनों की पृथकता प्रतीत होती है, परन्तु तुरीय अवस्था (समाधि) में दोनों एक हो जाते है। इस सूत्र में तीनों अवस्थाओं का चौथी से तेलवत् सिंचन का अभिप्राय अणु रूप चित्त और प्राण दोनों की पृष्ठभूमि में विभु प्राणात्मा या महानात्मा का अनुभव करते रहना है। अतः नीचे के दोनों सूत्र साधन रूप है।

मग्नः स्वचित्तेन प्रविशेत् ॥21

प्राणसमाचारे समदर्शनम् ॥22

उपरोक्त दो सूत्रों में से पहले में जाग्रत से समाधि में लयक्रम (अप्यय) और दूसरे में व्युत्थान दशा का वर्णन है। जब मन, बुद्धि सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा में स्थित हो जाती है तो उसी अवस्था को परमागति कहते है और इसी स्थिर इन्द्रिय–धारण को ही योग भी कहते है (देंखे कठोपनिष्द् 2,3,10 और 11)। ऐसी अवस्था अर्थात् समाधि की प्राप्ति के लिए पहले सूत्र में कहा गया है कि ध्यानमग्न हो कर चित्त के साथ समाधि में प्रवेश करे। यह सर्वविदित है कि प्राणों का लय होने पर समाधि लगती है। प्राणों के लय के साथ–साथ

चित्त का भी लय हो जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्राण-शक्ति क्रिया-रूपा है और चित्त ज्ञान-रूप है। यहाँ इस बात की ओर संकेत किया गया है कि प्राण-निरोध में चित्त को भी साथ रखना चाहिए अन्यथा केवल प्राण के साधन से जड़ समाधि की प्राप्ति होगी। यदि प्राण और चित्त दोनों का एक साथ लय होगा तो दोनों अपने कारण रूप विभु प्राण में लीन हो कर चेतन समाधि का अनुभव करायेंगे। अतः बुद्धिमान् मनुष्यों को चाहिए कि -

यच्छेद्वाड्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मानि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छान्त आत्मानि ॥

– कठोपनिषद् 1,3,13

अर्थात् वाणी (वाणि में सभी इन्द्रियों का उपलक्षण है) को मन में लय करे, मन को ज्ञानात्मा (बुद्धि) में ले जाय, ज्ञानात्मा रूपी बुद्धि को महानात्मा (समष्टि बुद्धि) में ले जाय और उस (महानात्मा) को शान्तात्मा अर्थात् अन्तरात्मा रूपी ब्रह्म में लय करें।

व्युत्थान दशा में महानात्मा से अणु बुद्धि और अणु प्राण का प्रथक्-प्रथक् व्युत्थान होता है। दूसरे सूत्र में, नीचे उतर कर, प्राण और बुद्धि दोनों के विभुत्वरूपी तेल के सिंचन से प्रभावित हो कर समता की प्राप्ति द्वारा विश्व में समदर्शिता प्राप्त करने की बात कही गयी है।

मध्येऽवरः प्रसवः ॥23

इस सूत्र में बीच की दशा का, जब कि केवल प्राण का (चित्त को साथ लिये बिना) लय होता है, वर्णन है।

प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न की तीसरी श्रुति का पद है-

मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे' अर्थात् शरीर में प्राण आध्यात्मिक रूप से मन के अधीन हो कर आता है। इसीलिए मन जिस विषय का चिन्तन करता है, प्राण की गति भी तद्विषयाभिमुखी होती है। यदि ध्यानावस्था में चित्त संसार के विषयों का चिन्तन करता हुआ निरूद्ध होता है तो वह प्राण की गति को रोकता है और समष्टि प्राण तक पहुँचने में बाधा डालता है अर्थात् दोनों बीच में ही रह जाते है। इसलिए भगवान् उपदेश करते है –

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चदपि चिन्तयेत्।

मन को आत्मा में अचल करके अन्य किसी भी वस्तु का चिन्तन न करें। क्योंकि समाधि अवस्था में पहुँचने से पूर्व ही, बीच में ही, नीचे (अवरः) रह जायेगा, – प्रसव अर्थात् प्रभव या व्युत्थान होने के कारण। ऐसे योगी को ही योगभ्रष्ट योगी कहा जाता है।

मात्रास्वप्रत्यय संधाने नष्टस्य पुनरूत्थानम् ।।24

ऐसे योगभ्रष्ट योगी को यहाँ नष्ट कहा है और उसके पुनरूत्थान के लिए साधन बताया है कि शब्द, स्पर्शादि मात्राओं में उनके ज्ञान से अविरति रख कर संधान करना चाहिए अर्थात् इन्द्रियों के विषयों से प्रत्याहारपूर्वक चित्त को शुद्ध रखते हुए आत्मचिंतन करना चाहिए।

शिवतुल्यो जायते ।। 25

ऐसा योगी शिवतुल्य हो जाता है।

शरीर वृत्तिर्व्रतम् ।। 26

उसकी सारी चेष्टाएँ व्रतरूप हैं।

कथा जपः ॥ 27

उसका सारा बोलना जप है।

दानमात्मज्ञानम् ॥ 28

आत्मज्ञान उसका दान है क्योंकि आत्मस्थित होने से वह आत्मप्रचार के लिए प्रकाश स्तम्भ हो जाता है। उससे आत्मज्ञान प्रस्फुरित होता है। (Radiates Spiritual Light)

योऽविपस्थो ज्ञहेतुश्च ॥ 29

'अविपस्थ' शब्द विप् धातु से बना हे जो विक्षेप अर्थ में आता है, इसलिए अविपस्थ अर्थात् विक्षेपरहित स्थिर अवस्था में स्थित स्वतः आनन्दस्वरूप तो है ही, साथ ही ज्ञान का भी कारण होती है क्योंकि चंचल मन में ज्ञान बिखरा हुआ रहता है और समाहित अवस्था में घनाकार होता है।

स्वशक्ति प्रचयोऽस्य विश्वम् ॥ 30

यहाँ पर 'स्व' से चेतनरूपा ज्ञान शक्ति और शक्ति से प्राण शक्ति दोनों का समावेश है। यह कहा जा चुका है कि व्यष्टिरूप से दोनों भिन्न होते हुए भी समष्टि महत् में भेदरहित एकात्म हो जाते है। शिवतुल्य योगी का चित्त् महत् में प्रतिष्ठित हो जाता है और वह चित्ताकाश से महत् चिदाकाश में उठ जाता है, किन्तु उसके लिए माया मल बना रहता है, इसलिए उसे शिवरूप न कह कर शिवतुल्य ही कहा गया है। शिव विश्व में रहते हुए भी निरूपाधिक है, परन्तु यह योगी अपनी शक्ति के प्रचय (स्फुरण) रूप विश्व की उपाधि से युक्त है अर्थात् उस योगी के लिए सारा विश्व उसके अपने अहम् और इदम् के स्फुरण रूप ही होता है।

स्थितिलयौ ॥ 31

व्युत्थान दशा में उसकी अवस्था स्थितप्रज्ञ की रहती है और समाधि अवस्था में लय की, जैसा कि कठोपनिषद् में कहा है - **'योगो हि प्रभवाप्ययौ।'**

गीता में भी – 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' – से इसी स्थितप्रज्ञ अवस्था की ओर संकेत है।

इस सूत्र द्वारा पहले सूत्र का स्पष्टीकरण किया गया है अर्थात् व्युत्थान दशा में वह योगी स्थिति रूपी अपनी शक्ति के प्रचय द्वारा शिव का दर्शन और समाधि अवस्था में उसका लय करता है।

तत्प्रवृत्तावप्यनिरासः संवेतृभावात् ॥ 32

'तत्' पद से यहाँ 30 वें सूत्र में कहा हुआ 'अस्य विश्वं' लेना चाहिए। उस विश्व में प्रवृत्त हो कर उससे निरस्त नहीं हुआ क्योंकि उसमें संवेदन का भाव रहता है अर्थात् उस का माया-मल निरस्त नहीं होता।

'अहम् ब्रह्मास्मि' महावाक्य में जीव-ब्रह्म का एकत्व कहा गया है। 'अहम्' पद में अहंता अथवा अस्मिता की उपाधि बताई गई है अर्थात् अहम् की उपाधि से युक्त होने के कारण वह जीव है, अहम् ही उपाधि निरस्त होने पर वह ब्रह्म है। स्थूल देह के स्तर पर देहाभिमानी 'अहम्' कर्मेन्द्रियों की क्रिया का अभिमान करके कर्तामल से युक्त होता है। ज्ञानेन्द्रियों और मन से युक्त-सुख-दुःख के भोगों का अभिमानी 'अहम्' भोक्तृत्व मल से युक्त होता है। उससे ऊपर चित्त का अभिमानी 'अहम्' आणवमल से युक्त होता है। चित्त के महत् में लीन होने पर चित्त की अहंता, (अणुत्व) का तो त्याग

कर देता है, परन्तु उस में भेदबुद्धि निरस्त नहीं होती।

शक्तिपात् द्वारा जिन साधकों की कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो कर क्रियाएँ करने लगी है, उनमें आणवमलयुक्त 'अहम्' अपने अन्दर एक दूसरी चेतना शक्ति का अनुभव करने लगता है जिसमें साधक ज्ञान सहित द्वितीय अहम् को अनुभव करता है। उसके ऊपर लक्ष्य रख कर उस साधक का कर्तापन क्षीण होने लगता है और इसी प्रकार शनैः-शनैः भोक्तापन भी क्षीण होता रहता है। शाम्भवोपाय में कथित 'चैतन्यमात्मा' के अनुसार उसका अहम् चित्त से चिदाकाश में उठ जाता है, परन्तु आणवोपाय में तदर्थ नाड़ी-शुद्धि, भूतजय इत्यादि क्रम से समाधि द्वारा जाग्रत अवस्था को तैलवत् सींचते-सींचते शब्द, स्पर्श रूपी मात्राओं की आसक्ति से मुक्त होने पर शिवतुल्य अवस्था की प्राप्तिं होती है। यह अवस्था शाम्भवोपाय मे शक्तिपात् द्वारा शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है।

सुखासुखयोर्बहिर्मननम् ॥ 33

ऐसे योगी क़ो सुख-दुख रूपी भोक्तृत्व मल के संस्कारों से छूटने के लिए मनन द्वारा सुख-दुःख दोनों को अपने स्वरूप से पृथक् समझना चाहिए।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन वेदान्त-साधन प्रणाली के मुख्य साधन हैं। श्रवण की गति श्रवणेन्द्रिय से मन तक और मनन की गति मन से बुद्धि तक होती है तथा बुद्धि की स्थिरता सम्पादित होने के पश्चात् मनन निदिध्यासन का रूप धारण कर लेता है जो 31 वें सूत्र (स्थितिलयौ) में स्थिति शब्द से बताया गया है। इस प्रकार सुख-दुःख को विजातीय समझ कर मनन की परिपक्व अवस्था

अर्थात् निदिध्यासन में आत्मस्थिति के लिए प्रवृत्ति होती है।

तद्विमुक्तस्तु केवली ॥ 34

भोक्तृत्व भाव से मुक्त होन पर अणुत्व भी समाप्त हो जाता है और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में केवलीभाव को प्राप्त होता है।

मोह प्रतिसंहतस्तु कर्मात्मा ॥ 35

क्योंकि अहम् रूपी मोह से युक्त देहाभिमानी कर्मात्मा होता है।

सांख्य अहम् को ही मोह कहता है। अहंभाव के स्थूल, सूक्ष्म स्तर ऊपर बता आये है। तब सोपाधिक अहंता का त्योग कर के केवली अवस्था में प्रज्ञानात्मा रूपी अहम् रह जाता है।

भेदतिरस्कारे सर्गान्तरकर्मत्वम् ॥ 36

भेद का तिरस्कार होने पर पूर्व सूत्रोक्त कर्ताभिमान में क्या अन्तर होता है? यह इस सूत्र में बताया गया है। भेद दो प्रकार का होता है - अभ्यन्तर और बाह्य। जीव और ईश्वर का भेद अभ्यनतर एवं दृश्य में नानात्व देवता बाह्य भेद है। जब तक मनुष्य को ईश्वर की सत्ता का अनुभव नहीं होता, तब तक यह भेद बने रहते है और ईश्वरवादियों का ईश्वर परम्परागत संस्कारों के आधार पर कल्पना मात्र, श्रद्धा और विश्वास का विषय रहता है। साधक जब ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता है, तब भेद की पृष्ठभूमि में सर्वव्यापी परमात्मा की सत्ता के आधार पर भेद में अभेद का अनुभव करता है और ज्यों-ज्यों जीव का अणुभाव कम होता जाता है, त्यों-त्यों भेद-दृष्टि भी कम होती जाती है।

जीवभाव के सर्वथा क्षीण हो जाने पर भेदबुद्धि का अभाव

और अभेद–बुद्धि का उदय होता है। इसीलिए बुद्धि के भेद–बुद्धि, भेदाभेद बुद्धि और अभेद–बुद्धि तीन स्तर माने जाते है। जब तक भेदबुद्धि की प्रधानता और अभेदबुद्धि गौण रूप से रहती है, मोहजन्य–कर्तृत्वाभिमान विद्यमान रहता है। परन्तु जब अभेद–बुद्धि की प्रधानता का उदय होता है और भेद–बुद्धि गौण रह जाती है तो जीव का कर्तृत्वाभिमान भी क्षीण होने लगता है और ईश्वर–शरणागति का वास्तविक स्वरूप अनुभवगम्य होता है। इसी को योगदर्शन में ईश्वरप्रणिधान कहा है।

यहाँ तिरस्कार शब्द इस बात का द्योतक है कि ईश्वरभाव के प्रकट होने पर साधक की भेद–बुद्धि गौण रूप से तिरस्कृत तो होने लगी है, परन्तु उसका अभाव नहीं हुआ है। ऐसे साधक के कर्म में असाधारण दिव्यता आ जाती है। सर्गान्तर का अर्थ नैसर्गिक समझना चाहिए, कयोंकि बिना देह की सहायता के अपनी दिव्य इन्द्रियों द्वारा उसको इच्छानुसार कर्म करने की शक्ति आ जाती है, जैसा कि अगले सूत्र में कहा गया है –

करणशक्तिः स्वतोऽनुभवात् ॥ 37

देह के आश्रित कार्य करने के कारण सामान्य मनुष्य को इन्द्रियों की स्वतन्त्र शक्ति का अनुभव नहीं होता, किन्तु उस योगी को इन्द्रियों की देह से स्वतन्त्र शक्ति का स्वतः अनुभव होने लगता है।

इन्द्रियों की शक्ति त्रिपदी कही जा सकती है- (1) शरीर के गोलकों के आधार पर सामान्य शक्ति, (2) शरीर के आश्रित स्वतन्त्र दिव्य शक्ति, और (3) शरीर का आश्रय त्याग कर प्रातिभदि

दिव्य शक्ति। योगदर्शन के विभूति पाद के 33वें सूत्र पर व्यास जी अपने भाष्य में लिखते हैं कि प्रातिभ ज्ञान सूर्योदय से पूर्व उषा की प्रभावत् विवेकज ज्ञान का पूर्व रूप है जिसके द्वारा योगी सब कुछ जानता है। पूर्व सूत्र में कथित स्वतन्त्र ज्ञान से प्रातिभ ज्ञान ही कहा गया है। योगदर्शन के अनुसार (विभूति पाद, सूत्र 36) प्रातिभ ज्ञान के अन्तर्गत श्रवण अर्थात् दिव्य श्रवण शक्ति, वेदन अर्थात् दिव्य स्पर्श शक्ति, आदर्श अर्थात् दिव्य दर्शन शक्ति, आस्वादन अर्थात् दिव्य रस शक्ति और वार्ता अर्थात् दिव्य वाक् शक्ति के नाम कहे गये है। ये समाधि के लिए विघ्न है और व्युत्थान दशा में सिद्धियाँ है। उक्त प्रातिभ-संज्ञक करण-शक्तियों को इन्द्रियों की स्वतन्त्र अर्थात् दिव्य शक्ति कहा गया है। आगे चल कर योगदर्शन के 43वें सूत्र के भाष्य में व्यास जी ने कहा है कि यदि मन शरीर में प्रतिष्ठित रह कर उक्त प्रातिभ शक्तियों के दूरस्थ विषयों को ज्ञान प्राप्त करता है तो यह मन की कल्पिता वृत्ति कहलाती है और यदि शरीर की अपेक्षा छोड़ कर दूरस्थ विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है तो मन की यह बर्हिमुखी वृत्ति अकल्पिता कहलाती है।

त्रिपदाद्यनुप्राणनम् ॥ 38

उपरोक्त कल्पिता और अकल्पिता इन्द्रिय-शक्तियों के अनुसार उस योगी की कर्मेन्द्रियों (जिनहें प्राणेन्द्रियाँ भी कहते है) की क्रिया को यहाँ 'अनुप्राणनम्' कहा गया है अर्थात् उस योगी की शारीरिक और कर्मेन्द्रियों की चेष्टाएँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के उपरोक्त त्रिपदादि ज्ञान के अनुसार प्रभावित होती है। 'शिवसूत्र-विमर्षिणी' में त्रिपाद का अर्थ सृष्टि, स्थिति और संहार लिया गया है।

चित्तस्थितिवच्छरीरकरणं बाह्येषु ॥ 39

चित्त की स्थिति के अनुसार शारीरिक इन्द्रियों की क्रिया बाह्य विषयों में अनुप्राणित होती है। उक्त त्रिपदादि करण शक्ति के आधार पर प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय और ध्याता-ध्यान-ध्येय त्रिपुटियों के अनुसार चित्त की स्थिति उत्तरोत्तर ऊँची समझनी चाहिए।

अभिलाषात् बहिर्गतिः संवाह्यस्य ॥ 40

संवाह्य से प्रमेय, ज्ञेय अथवा ध्येय का अभिलाषी योगी समझना चाहिए। 'शिवसूत्र-विमर्षिणी' में संवाह्य का अर्थ जीव लिया है। इसीलिए जीवत्व अथवा अणुत्व होने के कारण उसका लक्ष्य ध्येयाभिमुख रहता है अर्थात् ध्येय या ज्ञेय वस्तुओं में सुख की अभिलाषा करता है।

ऐसा योगी अपने अभिलषित बाह्य पदार्थ को प्राप्त करने के लिए सूक्ष्म देह द्वारा बहिर्गति प्राप्त करता है। यह अकल्पिता वृत्ति की सिद्धि के पश्चातृ ही सम्भव है। ऐसे योगी को परकायप्रवेश की भी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। परकायप्रवेश की योग्यता से पूर्व उसका जीवन नष्ट नहीं होता। सूक्ष्म शरीर से बाहर गति होने पर भी उसमें देहासक्ति बनी रहती है। व्यास जी योगदर्शन पर अपने भाष्य (विभूति पाद, सूत्र 43) में कहते हैं कि इस अकल्पिता महाविदेहा नामक वृत्ति को प्राप्त योगी परशरीर में प्रवेश करता है और उसके प्रकाशस्वरूप बुद्धि सत्व पर जो तमोजनय क्लेश-कर्म-विपाक का आवरण था, वह क्षीण हो जाता है। यही बात अगले सूत्र में इस प्रकार कही गयी है -

तदारूढ़प्रमितेस्तक्षयाज्जीव सक्षयः ॥ 41

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयरूपी प्रतिमि के कारण इस प्रकार के योगारूढ़ योगी की 40वें सूत्रोक्त बहिर्गति होती है तथा उस प्रमिति के कार्यरूप अभिलाषा के क्षय होने पर जीवभाव का सम्पूर्ण क्षय हो जाता है।

भूतकञ्चुकी तदाविमुक्तो भूयः पतिसमः परः ॥ 42

तत्पश्चात् पञ्चभूत और कञ्चुकी (काल, कला, नियति, विद्या, राग) से मुक्त हो कर पशुपति के समान परशिव हो जाता है। 25वें सूत्र में शिवतुल्य कहा था। यहाँ शिवस्वरूप हो जाता कहा है।

नैसर्गिकः प्राणसम्बन्धः ॥ 43

अब शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से उस योगी का जो सम्बन्ध है, वह स्वाभाविक प्राण का सम्बन्ध मात्र है अर्थात् वह जीवनमुक्त है।

नासिकान्तर्मध्यसंयमात्मित्रसव्यापसव्यसौषुम्णेषु ॥ 44

ऐसे योगी को नासिका के अन्तर और मध्य, इड़ापिंगला-सुषुम्ना मे संयम करने से कुछ प्रयोजन नहीं रहता।

भूयः स्यात् प्रतिमीलनम् ॥ 45

उस योगी की दृश्य के प्रति उन्मीलन अथवा (व्युत्थान दशा) फिर न आवे, न आवे !

उपसंहार

यह कहा जा चुका है कि यह दर्शन जीव-ब्रह्म की एकता अर्थात् अद्वैतवाद का प्रतिपादक है, परन्तु साधक के दृष्टिकोण को समक्ष रख कर यह साधन-क्रम पर भी प्रकाश डालता है जिसके द्वारा

वह जीवभाव को छोड़ कर ब्रह्मभाव प्राप्त कर सके। इस शास्त्र में जीव को पशु की और ब्रह्म को पशुपति की संज्ञा दी गयी है अर्थात् मनुष्यों में पशु, देव और ब्रह्म सभी भाव देखे जाते है। गीता 9, 12 मे तो राक्षसी और आसुरी भाव भी कहे गए है।

पातञ्जल योगदर्शन पर वृत्तिकार लिखते है कि क्षिप्तचित्त, रजोगुण के उद्रेक से अस्थिर, बर्हिमुख, सुख-दुःखादि विषयों के विक्षेपों में फँसा रहने वाला मन दैत्य-दानवों का होता है। तमोगुण के उद्रेक से कृत्याकृत्य (कौन-सा कार्य करना योग्य है और कौन-सा नहीं) के विवेक से रहित तथा क्रोधादि भावों के कारण विरूद्ध ही सोचने वाला मन राक्षस-पिशाचों का होता है। सत्वगुण के उद्रेक से सुख और दुःख के साधनों में विवेकपूर्वक प्रवृत्त होने वाला मन देवताओं का होता है। अंग्रेजी में भी कहावत है - 'Main is a rational animal or man is dattan or man is divine'। साधक को असुरों और राक्षसी भावों से मुक्त होना चाहिए।

साधक सत्वगुण का आश्रय लेकर पशुभाव से देवभाव की ओर अग्रसर होना चाहता है। इस दर्शन में भौरवीभाव (1/5), वीरेश या वीरभाव (1/11), कुमारी (बाला) रूप इच्छाशक्तियुक्त शाक्तभाव (1/13), अपशुशक्ति भाव (1/16), शिवावस्था भाव (2/5), सिद्धभाव (3/13), शिवतुल्यभाव (3/25), केवलीभाव (3/34), शिवभाव (3/42) कहे गये है जिन को पशुभाव और शिवभाव के मध्य साधन-सोपान कहना चाहिए।

जो मुनष्य देह के भोगों को ही जीवन ध्येय मानता है, वह एक समझदार पशु ही है। उपनिषदों में भी मनुष्य को 'देवानां पशु'

कहा गया हैं पशु को बाँधने के लिए पाश होते है। वास्तव में मोह रूपी राग ही मुख्य पाश है जो काम, क्रोध, लोभ, मोह मात्सर्यादि के रूप में प्रकट होता है। जब मनुष्य काम, क्रोधादि किसी के भी आवेश में आता है तो उस समय उसी भाव के तद्रूप हो जाता है। इन को मनुष्य की पाशविक शक्तियाँ भी कहा जाता है साधक इन सब पर जय प्राप्त करने का यत्न करता है जो आणवोपाय का विषय है। परन्तु शक्तिपात द्वारा शुद्ध शक्तिरूप कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर यही पशु शक्तियाँ सूत्र 3/19 में कहीं हुई अपशु अर्थात् दिव्य शक्ति में परिवर्तित हो जाती है (सूत्र 1/16)। आणवोपाय में 'चित्तमात्मा' यह संकेत करता है कि आत्मा की चेतन सत्ता चित्ताकाश पर प्रतिभासित होने से अणु हो गयी है और चित्त में स्फुरित अहंभाव पशुओं से लेकर देवताओं तक सब में देखा जाता है।

देहाभिमान जितना दृढ़ होता है, उतनी ही पशुभाव की वृद्धि होती है। देह से उठ कर सूक्ष्म स्तरों पर पशुभाव की क्षीणता होने लगती है। शक्तिपात् द्वारा देवात्म शक्ति की जागृति साधक को दैवी शक्ति की अनुभूति करा देती है। यद्यपि ये दोनों भाव बहुत ऊँचे स्तर तक तब तक बने रहते है जब तक कि अपशुशक्ति की जागृति न हो जाय। शांभव भाव में यहीं शक्तियाँ शिवभाव में परिणित हो जाती है, इसीलिए इनको सूत्र 1/4 में ज्ञानात्मिका मातृका शक्ति कहा गया है।

पशुभाव में बुद्धिसत्व पर देहासक्ति, देह के भोगों की आसक्ति और भोगों की वासना के संस्कार रहते है जो रजोगुण और तमोगुण प्रधान होते है। भौतिक देह पञ्चभूतों का निर्मित है जो विराट् के तमोगुणी अहंकार का परिणाम है। इन्द्रियाँ राजसिक अहंकार और

मन सात्विक अहंकार की विकृतियाँ है। आणव मल के दो स्तर कहे जा सकते है- पाशविक पाश के बन्धनयुक्त और शुद्ध सत्व गुण के स्वरूप पञ्चकञ्चुकीयुक्त (अर्थात् मायामल युक्त)। इसीलिए साधक के उन्नतिपथ का पहला स्तर पशुभाव से मुक्त होना है जो शुद्ध तत्व के अनुसन्धान द्वारा सम्पन्न होता है। उसके ऊपर शुद्ध विद्या के उदय होने (सूत्र 1/21) अर्थात् माया के पाँच कञ्चुकों के हट जाने पर मायामल अणुभाव की निवृत्ति होती है।

यहाँ साधन के दो मार्ग कहे गये है - एक शक्तिपात् रहित दूसरा शक्तिपात के पश्चात् कुण्डलिनी शक्ति की जागृति सहित। प्रथम श्रेणी का साधक मन्त्रादि की दीक्षा द्वारा यत्नपूर्वक साधन करता है। अष्टांगयोग, लय रोग, देवपूजा, अनुष्ठानादि जो क्रिया-साध्य है, इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते है। यह आणवोपाय है। शक्तिपात्-दीक्षा शक्तिपात का सामर्थ्य रखने वाले किसी गुरू से ही मिल सकती है। जिससे शिष्य की कुण्डलिनी शक्ति की जागृति होती है। इसे शाक्तोपाय और शाम्भवोपाय दो स्तरों तक बाँटा गया है।

शक्ति के जागृत होने पर साधकका पशु एवं आणव भाव तुरन्त नष्ट नहीं होता, शांभवोपाय तक बना रहता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। ऐसा भी देखा गया है कि किसी-किसी तीव्र साधक की कुण्डलिनी शक्ति देवानुग्रह से बिना शक्तिपात के ही जागृत हो जाती है, परन्तु उससे उसकी भ्रान्ति नहीं जाती और किसी-किसी में अनेक विघ्नों के कारण वह विकृत रूप भी धारण कर लेती है। उसे चाहिए कि किसी शक्तिपात वाले समर्थ गुरू से दीक्षा ग्रहण करें। यहीं बात 'गुरूरूपाय' (2/6) में कही गयी है। जैसा

कि इस सूत्र में प्रकट होता है, शांभवोपाय और शाक्तोपाय के लिए गुरू-कृपा की एक मात्र उपाय है।

गुरू अपने संकल्प, स्पर्श, मन्त्र अथवा दृष्टि द्वारा, दीपक से दीपकवत् अपनी शक्ति से शिष्य की सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर देता है। ऐसा भी देखा गया है कि बिना उपरोक्त स्पर्श, मन्त्रादि के गुरू के केवल संकल्प मात्र से भी अधिकारी शिष्य की कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। स्पर्श से स्थूल दीक्षा, मन्त्र से सूक्ष्म, अवलोकन द्वारा सूक्ष्मतर और केवल संकल्प द्वारा सूक्ष्मतम दीक्षा कही गयी है। इनके परिणामस्वरूप अनुभवों में तारतम्यता होती है। शिष्यों में भी दो प्रकार के अधिकारी कहे गये है। एक वे जो अपना ही कल्याण कर सकते है और दूसरे वे जिन्हें गुरू के आशीर्वादस्वरूप शक्तिपात का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। इस विषय की जानकारी के लिए तद्विषयक शास्त्रों का अवलोकन करें।

कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर साधक शक्ति के आश्रित हो जाता है। कुण्डलिनी शक्ति का विकास तथा साधक की प्रगति एवं उन्नति परस्पर सम्बन्धित है। कुण्डलिनी की सुप्तावस्था में मनुष्य की काम-क्रोधादि शक्तियाँ पाशविक स्तर पर रहती है। शक्ति के जागृत होने पर यद्यपि एकदम उनका उन्मूलन नहीं होता, पर युगपद से ब्राह्मी आदि शक्तियों का अनुभव होने लगता है जो पाशविक भावों से साधक की रक्षा करने में सहायक होती है। इसीलिए इन्हें 'पशुमातरः' (3/19) कहा गया है।

साधक जितना ही अन्तर्गुरूरूपी जागृत शक्ति की शरण रह कर आत्मनिवेदन करता जाता है, उतना ही वह शांभव भाव को प्राप्त

करता जाता है। शाक्तोपाय के स्तर पर शक्ति का रूप क्रियाओं द्वारा अनुभव में आता है, परन्तु शांभव भाव में शक्ति गुरू तत्व के रूप में प्रकट हो जाती है, मानो दो मित्र साथ-साथ रहते है जिनमें से एक मुक्त है और दूसरा बनधन में है। सहवास से बन्धनयुक्त बन्धनमुक्त की साम्यता प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार गुरूतत्व जिसे श्रुति-वचनों में -'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' - कहा गया है, प्रकट हो जाता है। साधक उसके दर्शन, शरण और आत्मनिवेदन द्वारा उसकी परम साम्यता को प्राप्त होता है अर्थात् शिवतुल्य हो जाता है।

जो कुछ कहा गया है उससे पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा कि कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर साधक जो लक्षण अनुभव करता है, उनके अनुसन्धान द्वारा जागृत शक्ति का अनुसन्धान होता है। शक्ति जागृत होने पर देवात्म रूप में व्यक्त होती है जो उसका शुद्ध स्वरूप है। 1/16 सूत्र में जहाँ शुद्ध तत्व के अनुसन्धान द्वारा अपशु शक्ति की जागृति का कथन है, वहाँ शुद्ध तत्व से शक्ति की जागृति के पूर्व हृदयादि स्थानों के अनुसंधान द्वारा ईश्वर की काल्पनिक सत्ता पर ध्यान अभिप्रेत है जिसका फल सूत्र 1/15 में चित्त के अन्तर्मुखी होने के कारण दृश्य का स्वप्नवत् दीखना कहा गया है।

पाँचों कलाओं में शान्तातीता में शिव-शक्ति, शान्ति कला में सदाशिव-ईश्वर और शुद्धविद्या में शुद्ध तत्व कहा है जिनके स्थान क्रमशः आज्ञा, विशुद्ध और अनाहत चक्र है। इनसे नीचे विद्या कला में माया के पाँच कञ्चुकों में से काल, कला, नियति को भी शुद्ध तत्व कहा गया है। 'क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्' (योगदर्शन

3/52) अर्थात् काल क ेक्षण और उनके क्रम पर संयमरूपी अनुसन्धान द्वारा विवेकज ज्ञान होता है।

इसी प्रकार अनन्त आकाश, अनन्त समुद्र की जलराशि अथवा अनन्त समय पर ध्यान करने का भी विधान है जैसा कि योगदर्शन सूत्र 2-47 में अनन्त में चित्त समाहित होन पर प्रयत्न की शिथिलता ही गयी है। परन्तु कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होन पर साधक के अनुसन्धान के अभ्यास के अनुपात से उसकी अपशु शक्ति की जागृति होती है। कुण्डलिनी शक्ति की क्रियाओं पर साधक का लक्ष्य हठात् जाता है और उसके लक्ष्यानुसन्धान द्वारा कुण्डलिनी की जागृति और पशुशक्ति की क्षीणता साधक के अनुभव में आती है। आगे शुद्ध विद्या के उदय से 1/21 में कही गयी चक्रेशत्व सिद्धि के अनुसार उत्तर स्तर पर जब कुण्डलिनी शक्ति शुद्ध विद्या के रूप में उदय होती है, तब उसको छहों चक्रों की सिद्धियाँ आ जाती है। इसके लिए साधक शिवसंहिता का पञ्चम पटल देखें।

ॐ तत्सत्

योगश्री पीठ आश्रम : संक्षिप्त परिचय

योगश्री पीठ आश्रम की स्थापना ब्रह्मलीन श्री 1008 श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज ने सन् 1965 में की थी। उनकी गंगा जी के प्रति अपार श्रद्धा थी, अतः वे इसी आश्रम पर वर्ष में अधिकांश निवास करते थे। यह आश्रम हिमालय की गोद में पतित पावनी गंगा जी के तट पर स्थित तपःस्थली है। यहाँ अष्ट-प्रहार 'शिव-शिर-मालति-माल' भागीरथी ' हर-हर-हर' की ध्वनि से सम्पूर्ण घाटी को गुञ्जित करती रहती है। आश्रम के किसी भी भाग से सुरम्य घाटी का नयनाभिराम दृश्य एवं माँ गंगा के दर्शन स्वतः ही होते रहते है।

आश्रम का ट्रस्ट शक्तिपात सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन भी करता है जिसका मूल उद्देश्य मुमुक्षुओं को ब्रह्मलीन श्री 1008 श्री स्वामी नारायणतीर्थ देव जी महाराज द्वारा प्रणीत सिद्ध साधन शक्तिपात का ज्ञान कराना है। योगश्री पीठ ट्रस्ट (प्रकाशन) द्वारा शक्तिपात सम्बन्धी प्रकाशित ग्रन्थों की सूची यहाँ दी रही है।

ऋषिकेश भारत का तीर्थ स्थान ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक केन्द्र भी है, जहाँ देश के ही नहीं, विश्व भर के जिज्ञासुओं, यात्रियों का आवागमन बना रहता है। उत्तर भारत के चारों धामों यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी, केदारनाथ एवं बदरीनाथ की यात्रा भी यहीं से प्रारम्भ होती है।

सचिव,

योगश्री पीठ ट्रस्ट, मुनीकीरेती

भजन

1. कर्म करना ही पड़ेगा, कर्म करना चाहिए।
निःकाम हो, निष्कर्म होकर, कर्म करना चाहिए।।
2. अनुकूलता प्रतिकूलता की भावना तज कर्म में।
होकर अकर्मी निर्भिमानी, कर्म करना चाहिए।।
3. अब तक सकामी और अभिमानी रहा तू कर्म में।
अब तो प्रभु के वास्ते ही कर्म करना चाहिए।।
4. चाहते है सुख सभी, पर दुःख मिलता है यहाँ।
सुख के लिए सेवा समझ कर, कर्म करना चाहिए।।
5. कर्म से भागे हैं क्यों, निष्काम होकर कर्म कर।
करता पलायन कर्म से क्यों, कर्म करना चाहिए।।
6. उपदेश गीता का यही है, युद्ध कर, तू कर्म कर।
सेवा समर्पण भाव से ही, कर्म करना चाहिए।।
7. स्थित प्रज्ञ बुद्धि योग में है चित्त की समता छिपी।
स्थिर चित्त हो, कर्तव्य से ही, कर्म करना चाहिए।।
8. मैंने किया, मैंने किया, अभिमान मिथ्या ही तो है।
हो युक्त दैवी शक्ति से ही, कर्म करना चाहिए।।
9. कर्मी, अकर्मी और विकर्मी, भेद तीनों कर्म के।
बनकर अकर्मी ही सदा तो, कर्म करना चाहिए।।
10. मन की अशुद्धि प्राप्त की है, कर्तापन और मोह से।
अब चित्त शुद्धि के लिए ही, कर्म करना चाहिए।।
11. तीरथ शिवोम् प्रगट हुआ, उपदेश यह गुरूदेव से।
अभिमान तज, अभिमान तज कर, कर्म करना चाहिए।।

भजन

1. जगत हुआ है बावरा, माया का अंध्यारा।
माया अन्दर देव अनेकों, माया का विस्तारा।।

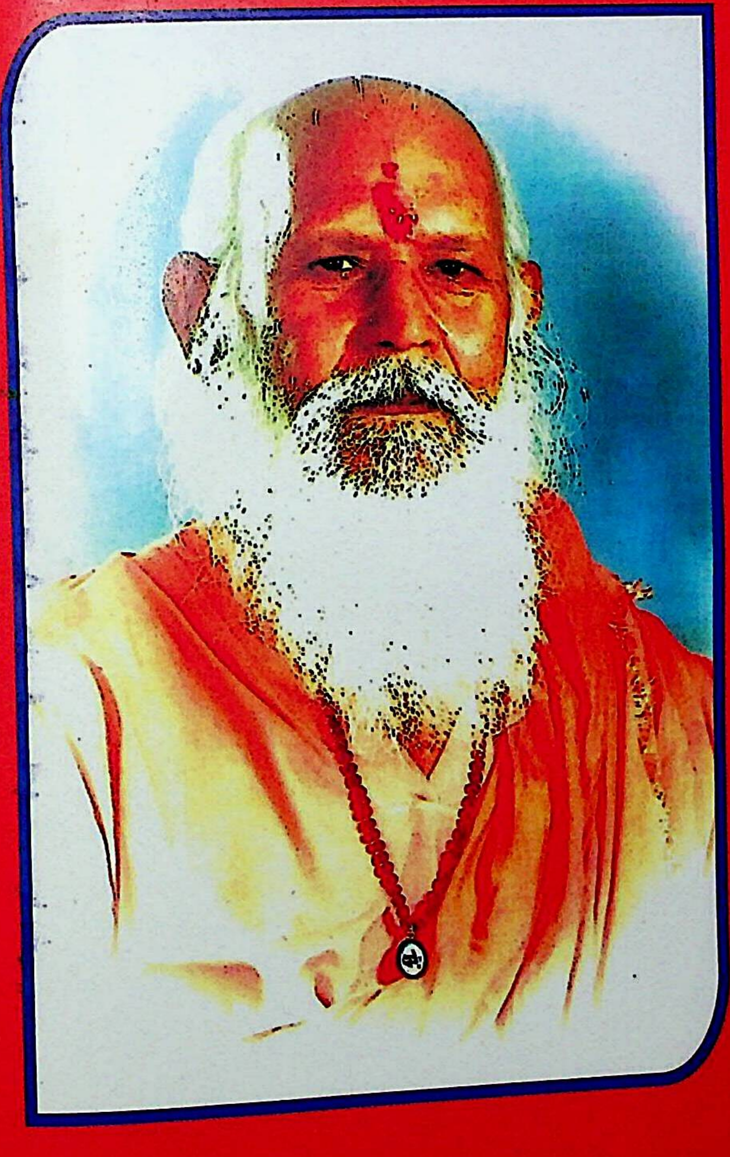
2. मानव पशु समान हुआ है, विषय भोग है भाता।
मोह में लीन बेचारा मानव, मोह का सकल पसारा।।

3. माया ममता मोह न छूटे, मन भोगों में जाता।
सुखी दुखी होता है मन में, भोगों का परिवारा।।

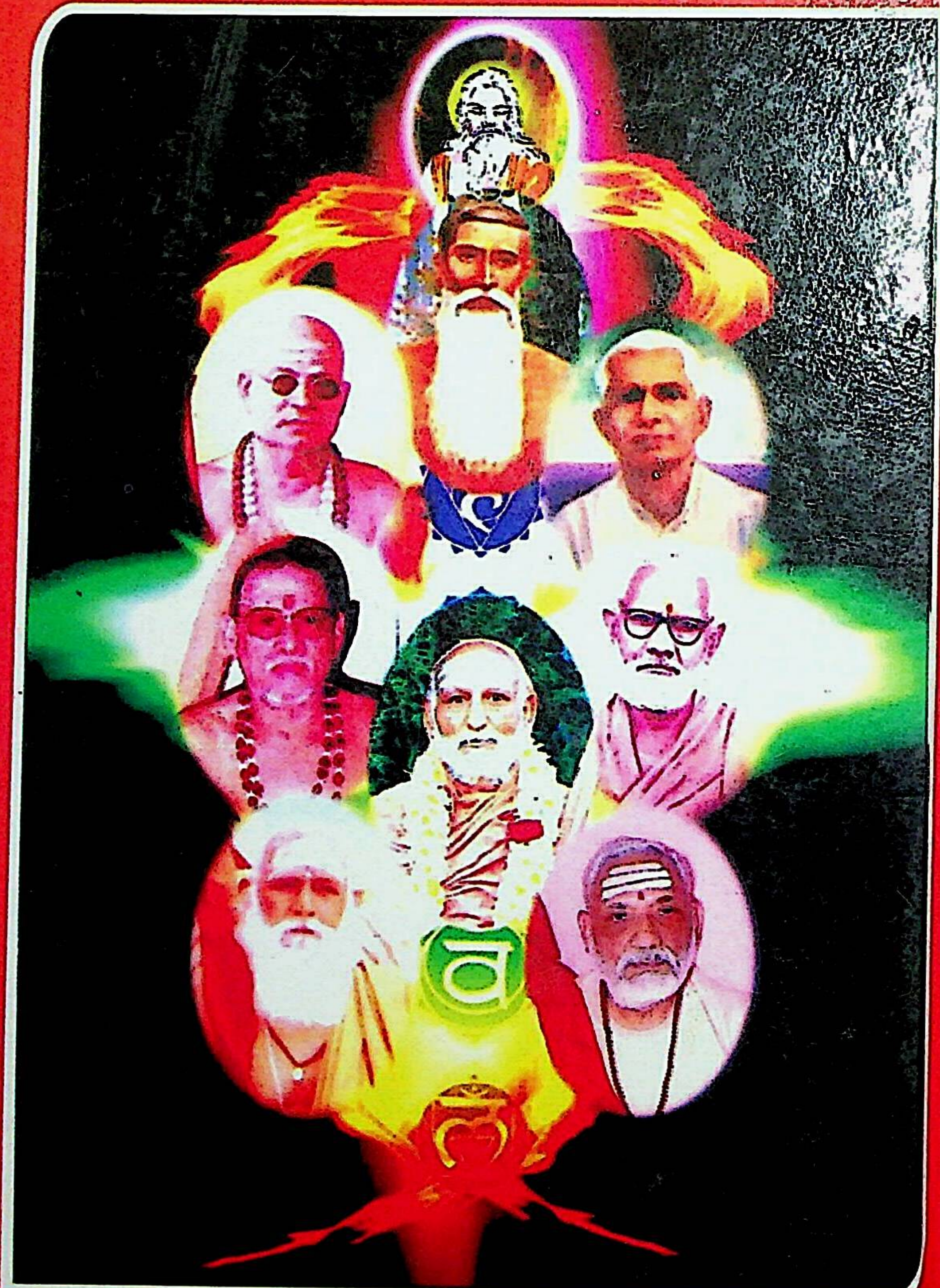
4. माया छूटत गुरू कृपा से, कर्म पाप कट जाते।
शक्ति जाग्रत क्रियावती हो, नष्ट पाप भण्डारा।।

5. करती क्रिया अलौकिक भीतर, क्षीण पाप हो जाते।
तृष्णा मिटती काम वासना, जय जय गुरू अपारा।।

6. तीर्थ शिवोम् तू राम भजन कर, ताप पाप मिट जाते।
गुरू मारग अपना कर मानव, विलय हुआ संसारा।।



प. पू. स्वामी श्री गोविन्दानन्द तीर्थ जी महाराज



गुरू परम्परा